कल्याण
वर्ष ४६]
[अङ्क ६

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

संस्करण १,६६,५००

विषय-सूची

कल्याण, सौर आषाढ़, श्रीकृष्ण-संवत् ५१९८, जून १९७२

चित्र-सूची

Free of charge] जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥ [बिना मूल्य

आदि सम्पादक—नित्यलीलालीन श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार । सम्पादक—चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

राजा बहुलाश्वके द्वारा भगवान् श्रीकृष्णकी अर्चना (श्रीमद्भागवत १० । ८६)

दक्षिणे लक्ष्मणो यस्य वामे च जनकात्मजा । पुरतो मारुतिर्यस्य तं वन्दे रघुनन्दनम् ॥

(रामरक्षास्तोत्र, ३१)

वर्ष ४६ } गोरखपुर, सौर आषाढ़, श्रीकृष्ण-संवत् ५१९८, जून १९७२ { संख्या ६ पूर्ण संख्या ५४७

भगवान् श्रीकृष्णकी वन्दना

योऽवतीर्य यदोर्वंशे नृणां संसरतामिह ।
यशो वितेने तच्छान्त्यै त्रैलोक्यवृजिनापहम् ॥
नमस्तुभ्यं भगवते कृष्णायाकुण्ठमेधसे ।
नारायणाय ऋषये सुशान्तं तप ईयुषे ॥

(श्रीमद्भागवत १० । ८६ । ३४-३५)

आपने यदुवंशमें अवतार लेकर जन्म-मृत्युके चक्करमें पड़े हुए मनुष्योंको उससे मुक्त करनेके लिये जगत्में ऐसे विशुद्ध यशका विस्तार किया है, जो त्रिलोकीके पाप-तापको शान्त करनेवाला है । प्रभो ! आप अचिन्त्य, अनन्त ऐश्वर्य और माधुर्यकी निधि हैं । सबके चित्तको अपनी ओर आकर्षित करनेके लिये आप सच्चिदानन्दस्वरूप श्यामब्रह्म हैं । आपका ज्ञान निर्बाध है । परम शान्तिका विस्तार करनेके लिये आप ही नारायण ऋषिके रूपमें तपस्या कर रहे हैं । मैं आपको नमस्कार करता हूँ ।

कल्याण

संसारमें दो चीजें हैं—भगवान् और भोग। दोनोंमें स्वरूप, साधन और फलकी दृष्टिसे सर्वथा अन्तर है। संसारके भोग पूर्वकर्माधीन हैं, जब कि भगवान् और भगवान्का प्रेम—ये पूर्वकर्माधीन नहीं हैं। किसीको दस, सौ, हजार, लाख रुपये चाहिये, नौकरी चाहिये। भाग्यमें होगा तो उसे रुपये प्राप्त होंगे, नौकरी मिलेगी; अन्यथा हजार चेष्टा करनेपर, रोनेपर, पाप करनेपर भी उसे रुपये प्राप्त नहीं होंगे, नौकरी नहीं मिलेगी, नहीं मिलेगी, नहीं मिलेगी। किंतु भगवान् कर्मके फल नहीं हैं; भगवान् तो सर्वत्र हैं, सदा हैं और सबके लिये हैं। भगवान्को प्राप्त करनेकी इच्छा होनेसे भगवान् मिल जाते हैं।

भगवान्की प्राप्तिमें न धनका महत्त्व है, न जातिका, न देशका, न वेशका, न विद्याका; उसमें महत्त्व है अपनी इच्छा एवं चाहका। व्याकुल होकर भगवान्से प्रार्थना हो—'हे नाथ! अविवेकी पुरुषोंकी विषयोंमें जैसी प्रीति होती है, वैसी ही प्रीति आपका स्मरण करते हुए मेरे हृदयमें हो और वह कभी दूर न हो'—

या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु॥

(विष्णुपुराण १। २०। १९)

—तो निश्चित है कि भगवान्की प्राप्ति हो जायगी।

भोगोंका प्राप्त होना अपने हाथकी बात नहीं है। मेरे विश्वाससे एक सौ रुपये पाना सहज नहीं है, किंतु भगवान्को पाना सहज है। सौ रुपये तभी प्राप्त होंगे, जब हमारा कर्म वैसा होगा; अन्यथा किसी भी प्रयत्नसे सौ रुपये प्राप्त हो ही नहीं सकते। पर भगवान्की चाह करनेपर कभी चाह खाली नहीं जाती, पूरी हुए बिना नहीं रहती; क्योंकि भगवान् चाहके फल हैं, कर्मके नहीं। तथा वे उपलब्ध करनेकी वस्तु हैं, सर्वत्र हैं, सबके लिये हैं, सबके अधिकारकी वस्तु हैं। अतएव भोगोंको प्राप्त करनेमें रत न रहकर भगवान्को प्राप्त करनेकी चाह करनी चाहिये। बुद्धिमानी इसीमें है। भगवान्ने गीतामें कहा है—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥

(गीता ५। २२)

बुद्धिमान् मनुष्य वह है, जो संसारके आने-जानेवाले तथा दुःखोंके उत्पत्तिस्थान भोगोंमें कभी रमता नहीं, रति नहीं करता, प्रेम नहीं करता। व्यवहारमें हम देखते हैं कि वह मनुष्य बुद्धिमान् नहीं होता, जो दुःख पैदा करनेवाली वस्तुको उपयोगमें लाये, ऐसी वस्तुका संग्रह करे, प्राप्त करनेका प्रयत्न करे। वह तो मूर्ख है। बुद्धिमान् वह है, जो दुःख देनेवाली वस्तुओंसे दूर रहकर, उन्हें हटाकर, उनसे हटकर, जहाँ परम सुख है, जहाँ आत्यन्तिक आनन्द है तथा शाश्वती शान्ति है, उस स्थानको, परमधामको, भगवान्के स्वरूपको, उस तत्त्वको, उस भगवत्प्रेमको प्राप्त करनेका प्रयत्न करे। इसीमें मानवकी बुद्धिमत्ता है। यही मानवका सौभाग्य है, यही मानवका परम पुण्य है। वास्तविक पुण्यात्मा कौन? जो भगवान्को भजे। सौभाग्यशाली कौन? जो भगवान्को भजे। बुद्धिमान् कौन? जो भगवान्को भजे।

इस प्रकार भगवान्का भजन हमारे जीवनका एकमात्र कर्त्तव्य होना चाहिये। समझना है—भजनका अर्थ क्या है? कुछ समय पूजा-पाठ करना ही भजन नहीं है। भजनका अर्थ है—हमारा प्रत्येक श्वास, हमारे जीवनकी प्रत्येक क्रिया तथा हमारे मनका प्रत्येक विचार भगवान्के साथ जुड़ा हो। जब जहाँ ऐसा हुआ कि जीवन भगवन्मय हो जायगा। हम ऐसे जीवनकी चाह करें, ऐकान्तिक चाह करें और उसकी सफलताके लिये सच्चे हृदयसे प्रयत्न करें।

पुराणोंकी महिमा

[अनन्तश्रीविभूषित गोवर्धन-पीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकराचार्य श्रीनिरंजनदेवतीर्थजी महाराजके सदुपदेश]

(प्रेषक—भक्त श्रीरामशरणदासजी)

पुराणोंकी महिमा वर्णनातीत है। भारतीय वाङ्मयमें पुराण-साहित्य अपना बड़ा विशिष्ट महत्त्व रखता है। सृष्टि, प्रलय, राजवंशावली, मन्वन्तर और मन्वन्तरानुचरित पुराण-साहित्यके प्रधान प्रतिपाद्य विषय हैं। भारतीय ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण विश्वके प्राचीन इतिहासकी कड़ियोंको जोड़नेके लिये पुराण-जैसा बेजोड़ साधन कोई दूसरा उपलब्ध होना बड़ा ही कठिन है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चारों पुरुषार्थोंके स्वरूपका प्रतिपादन तथा उनकी प्राप्तिके उपायोंका सरल साधन जितनी सुगमतासे पुराणोंके द्वारा ज्ञात हो सकता है, उतना अन्य किसी भी साहित्यसे नहीं। वेदादि शास्त्र जहाँ प्रत्येक बातको अत्युच्च दार्शनिक दृष्टिसे प्रतिपादित करते हैं, वहाँ पुराण-साहित्य सरल, सुगम एवं सुबोध कथाओं और आख्यायिकाओंके द्वारा गूढ़तम तत्त्वोंका प्रतिपादन करता है। अनन्तकोटिब्रह्माण्डनायक पूर्णतम पुरुषोत्तम प्रभुकी ज्ञानशक्तिके अवतार श्रीकृष्णद्वैपायनजी हैं। उन्होंने इसीलिये पुराण-साहित्यका प्राकट्य किया था कि जिन स्त्री-शूद्र-द्विजबन्धु आदिकी गति वेदादि शास्त्रोंमें कुण्ठित हो जाती है, उन्हें भी इस लोक और परलोकमें सब प्रकारकी सुख-शान्तिकी प्राप्ति एवं परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति सरलतम साधनोंके द्वारा हो जाय—

स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा।
इति भारतमाख्यानं कृपया मुनिना कृतम्॥
(श्रीमद्भा० १।४।२५)

खेदकी बात है कि ऐसे सर्वोपयोगी पुराण-साहित्यको आजकलके कुछ लोग प्रमाण नहीं मानते और उनमें आयी हुई कथाओंमें निहित आध्यात्मिक, आधिदैविक एवं आधिभौतिक अत्यन्त उपयोगी रहस्यको न समझकर उनपर आक्षेप करते हैं। कुछ लोगोंका कहना है कि पुराणोंका निर्माण अधिक-से-अधिक दो-तीन हजार वर्ष पूर्व हुआ था, जब कि वैदिक साहित्य अपौरुषेय, अनादि और अनन्त है। पर उन्हें इस बातका ज्ञान नहीं कि जिस प्रकार वैदिक साहित्य (जो विश्वका आदि साहित्य है) पुरातन है, उसी प्रकार पुराण-साहित्य भी पुरातन है। इस पुरातन पुराण-साहित्यको सुव्यवस्थित रूप देनेका श्रेय श्रीकृष्णद्वैपायनजीको है। वैदिक साहित्य भी इस बातकी स्पष्ट साक्षी देता है कि इतिहास-पुराण साक्षात् पञ्चम वेद हैं। छान्दोग्य उपनिषद् (७।१।२) में लिखा है—

इतिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदम्।

ऐसे ही वचन अन्य अनेक उपनिषदोंमें भी उपलब्ध होते हैं। ब्राह्मण-ग्रन्थ और उपनिषद् वेदके अविभाज्य अङ्ग हैं। वेदोंका साक्षात् मन्त्र-संहिता-भाग भी वेदोंकी अपेक्षा पुराणोंको अधिक महत्त्व देता है। अथर्ववेदसंहिता (११। ७।२४) का निम्नाङ्कित मन्त्र अवलोकनीय है।

ऋचः सामानि च्छन्दांसि पुराणं यजुषा सह।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः॥

इस मन्त्रमें स्पष्ट कहा गया है कि ऋग्वेद-यजुर्वेद-सामवेदादि मन्त्र भाग तथा ब्राह्मण-भागके साथ पुराण भी भगवान्‌के द्वारा ही प्रकट हुए। अनेक अन्य वेदमन्त्रोंमें जब पुराणोंका स्पष्ट उल्लेख मिलता है, तब उनका रचना-काल कुछ ही हजार वर्ष पहले माननेपर वेद तो उनसे भी बादके बने सिद्ध होंगे!

रह जाती है बात पुराणोंकी ऐसी कथाओंकी, जो आजकलके लोगोंको असम्भव प्रतीत होती हैं और जिन्हें आजकलके लोग प्रकृति-विरुद्ध कहते हैं। यह एक

सत्य बात है कि प्रकृति कहते ही उसे हैं, जो असम्भव-को भी सम्भव करे। प्रकृति महाशक्तिका दूसरा नाम 'अघटितघटनापटीयसी' है। इसके अतिरिक्त अनेक मासिक पत्रोंमें प्रायः ऐसी सत्य घटनाएँ प्रकाशित होती रहती हैं, जो आज भी पुराणोंकी असम्भव-सी लगनेवाली घटनाओंको सत्य सिद्ध करती हैं।

संक्षेपमें वेदोंमें जो कुछ भी सूत्ररूपमें कहा गया है, उसीको पुराणोंने विशद विवेचन कर साधारण व्यक्तिके समझने योग्य बना दिया है। ऐसी कोई भी बात पुराणोंमें है ही नहीं, जो वेदोंमें न हो। अतः वेदोंके समान पुराण-साहित्य भी निर्भ्रान्त-प्रामाण्य साहित्य है, इसमें किसी प्रकारकी शङ्काके लिये अवकाश नहीं। जो लोग पुराणोंकी निन्दा करते हैं, वे अपनी ज्ञान-शून्यताका प्रमाण देते हैं। यदि हमें अपना और अपने देश तथा अपनी जातिका परम कल्याण अभीष्ट है तो हमें पुराणोंकी शरणमें अवश्य ही आना होगा और पुराणोंकी विलक्षण महिमाको समझकर और पुराणोंके बताये मार्गपर चलकर ही हम अपने देश-धर्म-जाति-समाजका वास्तविक कल्याण कर सकेंगे। यह सत्य सिद्धान्त है।

मन और उसके संकल्प

[पूज्यपाद योगिराज अनन्तश्री देवरहवा बाबाके उपदेश]

(प्रेषक—श्रीरामकृष्णप्रसादजी ऐडवोकेट)

भगवान्‌की अनन्त कृपासे हमें यह मनुष्य-शरीर प्राप्त हुआ है; लेकिन यह शरीर है क्या, इसपर हम विचार नहीं करते। इस मानव-शरीरमें दो भाग हैं—एक वाह्य भाग, जो पाँच कर्मेन्द्रियों और पाँच ज्ञानेन्द्रियोंका समूह है, जिसे हम देखते हैं। किंतु इस शरीरका एक अन्तर्भाग है, जिसे हम देखते नहीं, लेकिन अनुभव करते हैं। इस अन्तर्भागमें कुछ दिव्य शक्तियाँ हैं, जिनको हम आत्मा, बुद्धि और मन कहते हैं। चूँकि इन शक्तियोंको हम देखते नहीं, इसीलिये इनके विषयमें हम विशेष विवेचन नहीं करते।

उपनिषद्‌का एक मन्त्र है—जिसका भावार्थ यह है कि 'शरीरमें जो इन्द्रियाँ हैं, उनके ऊपर मन है, मनके ऊपर बुद्धि है, बुद्धिके ऊपर आत्मा है और आत्माके ऊपर परमपिता परमात्मा हैं, जो सर्वशक्तिमान्, सर्वान्तर्यामी, निर्विकार और अखिल ब्रह्माण्डके नियन्ता हैं। उन्होंने दया करके इस जीवात्माको अपनेसे बिछुड़कर संसारके बीहड़ वनमें भटकते हुए और कहीं सुख तथा शान्ति न पाते हुए देखकर उसे मानव-शरीर-रूपी सर्वसाधनसम्पन्न रथ और उसे खींचनेके लिये इन्द्रियरूपी बलवान् घोड़े दिये हैं। इतना ही नहीं, उन्होंने उनके नथुनोंमें मनरूपी लगाम लगाकर उसे बुद्धिरूपी सारथिके हाथोंमें सौंप दिया है और जीवात्माको उस रथमें बैठाकर उसे आदेश दिया है कि वह बुद्धिकी सहायतासे इन्द्रियोंको वशमें करके उन्हें नाम-रूप-लीला-धामरूप भगवान्‌की ओर ले जानेवाले मार्गसे चलाये और क्रमशः भगवान्‌के पास पहुँच जाय। किंतु जीवात्मा उनके आदेशका पालन नहीं करता। यह तो सांसारिक माया-मोहमें फँसकर जीवनके परम लक्ष्य परमात्माको भूल गया है। परिणाम यह हुआ है कि बुद्धिको उचित प्रेरणा नहीं मिलनेसे उसने मनरूपी लगामको इन्द्रिय-रूपी घोड़ोंकी इच्छापर छोड़ दिया है और जीवात्मा इस प्रकार इन्द्रियोंके अधीन होकर संसारचक्रमें डालनेवाले विषयोंमें भटकने लगा है।

इसी विषयमें उपनिषद्‌का मन्त्र है—

आत्मानꣳ रथिनं विद्धि शरीरꣳ रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥

(कठोप० १।३।३)

इस मन्त्रका भाव ऊपर स्पष्ट कर दिया गया है। यहाँ प्रश्न यह होता है कि बुद्धिरूपी सारथि मनरूपी लगामके द्वारा इन्द्रियोंपर किस प्रकार शासन करे, जिससे वे विषयोंमें न भटककर भगवान्‌की ओर अग्रसर हों। इसके लिये उपनिषद् पुनः कहते हैं—

यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः॥

(वही, १।३।६)

इस मन्त्रका अर्थ यह है कि जिस मनुष्यकी बुद्धि अपने लक्ष्यकी ओर ध्यान रखती हुई अपने नियन्त्रणमें रखी

हुई मनरूपी लगामसे इन्द्रियोंको सन्मार्गपर चलानेमें सदा तत्पर रहती है, उसकी इन्द्रियाँ उसकी निश्चयात्मिका बुद्धिके अधीन होकर वैसे ही चलती हैं, जैसे सावधान सारथिके घोड़े उसके वशमें रहकर उसके द्वारा निर्दिष्ट मार्गपर चलते हैं। उपर्युक्त दृष्टान्तसे यह स्पष्ट हो जाता है कि हमारे शरीरमें जो इन्द्रियाँ हैं, उनका सीधा सम्बन्ध हमारे मनसे है। मन यदि इन्द्रियोंपर पूरा शासन रखे और इन्द्रियोंको इधर-उधर भटकने न दे तो हम अपने शरीरसे महान्-से-महान् काम कर सकते हैं—इसमें तनिक भी संदेह नहीं है।

इन्द्रियोंपर मनके शासनको ही हम एक प्रकार मनका शुद्ध संकल्प कह सकते हैं। मनका संकल्प शुद्ध हो और उसके अनुकूल हमारी इन्द्रियोंका संचालन हो तो कौन-सी ऐसी वस्तु होगी जो हमें प्राप्त न हो—विशेष करके भगवान्‌की उपलब्धि, जो इस जीवनका मुख्य लक्ष्य है।

अब यदि हम चाहें कि हमारे मनके संकल्प शुद्ध हों और हमारे मनका सम्बन्ध भगवान्‌के नाम-रूप-लीला-धामसे हो, इसके लिये आवश्यकता है सत्संगतिकी। सत्संगतिका अर्थ है—संत-महात्माओंसे सम्पर्क होना। संत-महात्मा हमें बताते हैं कि भगवन्नाम वाणी और कानका विषय है। अपनी वाणी और श्रवणेन्द्रियको हमें भगवान्‌के नाम-गुण-कीर्तनमें और उनकी महिमाके श्रवणमें लगा देना चाहिये। अपने नेत्रोंसे भगवान्‌के रूप तथा लीलाओंका दर्शन करना चाहिये और पैरोंद्वारा भगवान्‌के शास्त्रोक्त धामोंकी यात्रा करनी चाहिये। इस प्रकार अपनी सारी इन्द्रियोंका सम्बन्ध भगवान्‌से जोड़ देना चाहिये और ऐसा करना चाहिये कि अपने अन्यान्य जीवनोपयोगी कर्मोंको करते हुए जो अन्य क्षण हमें सुविधापूर्वक उपलब्ध हों, उनको भगवान्‌की स्मृतिमें बिताना चाहिये।

सारांश यह कि अपनी इन्द्रियोंद्वारा जो काम हमें करने हैं, वे तो हम अवश्य करेंगे ही; किंतु उन इन्द्रियोंके सारे कर्म अपने मनद्वारा नियन्त्रित होने चाहिये। इन्द्रियाँ मनके अधीन होनी चाहिये, न कि मन ही इन्द्रियोंके अधीन हो। परंतु मन भी तो बड़ा चञ्चल है और उसकी चञ्चलताके कारण इन्द्रियाँ इधर-उधर चलायमान होती रहती हैं। इसके सम्बन्धमें जो थोड़ी-सी बातें अर्जुन और भगवान् श्रीकृष्णके बीच हुई हैं, वे मननयोग्य हैं। अर्जुन भगवान् कृष्णसे कहते हैं—

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥
(गीता ६। ३४)

'कृष्ण! यह मन स्वभावतः बड़ा चञ्चल है और बहुत बलवान् है; इसलिये उसको वशमें करना वायुके वेगको रोकनेकी भाँति कठिन है।' ऐसी दशामें जो स्वयं चञ्चल है, उसके द्वारा इन्द्रियोंका नियमन क्योंकर सम्भव है? इसके उत्तरमें भगवान् श्रीकृष्णका जो कथन है, वह और भी मननीय है। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥
(गीता ६। ३५)

'अर्जुन! मन निस्संदेह बड़ा चञ्चल है और स्वयं कठिनतासे वशमें आनेवाला है; किंतु अभ्यास करनेसे और सांसारिक विषयोंमें वैराग्य करनेसे अर्थात् अनासक्तिके द्वारा वह वशमें लाया जा सकता है।'

भगवान्‌के नाम और गुणोंका श्रवण-मनन-कीर्तन-जप तथा भगवद्विषयक ग्रन्थोंका पठन-पाठन इत्यादिको बार-बार करनेका नाम ही 'अभ्यास' है। इस प्रकारका अभ्यास करनेसे और विषयोंके प्रति वैराग्यसे शनैः-शनैः मन और उसके द्वारा नियन्त्रित इन्द्रियाँ—ये सब-के-सब शुभमें प्रवृत्त हो जायँगी—इसमें तनिक भी संदेह नहीं करना चाहिये। मनसे चाहे हम सांसारिक विषयोंमें फँसे रहें या मोक्ष प्राप्त कर लें—इसमें हमारी पूर्ण स्वतन्त्रता है। इस विषयमें हमें सदा यह याद रखना चाहिये—

'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।'

इस मनके द्वारा यदि सतत अभ्यास हो—भगवन्नामका श्रवण, मनन और जप हो तो निश्चय ही हम मुक्त हो सकते हैं; अन्यथा इस प्रपञ्च-जालमें फँसे रहना हमारे लिये अनिवार्य ही है।

'मनो हि द्विविधं प्रोक्तं शुद्धं चाशुद्धमेव च।'

हमारा मन भी दो प्रकारका होता है—एक शुद्ध और दूसरा अशुद्ध। अशुद्ध मन वह है, जो सांसारिक कामनाओंसे युक्त हो, जो सदा इन सांसारिक विषयोंमें गला-पचा रहे। और शुद्ध मन वह है, जिसके द्वारा भगवन्नामका जप, मनन, श्रवण आदि हुआ करे। चूँकि हमें संसारमें रहना है और सांसारिक कार्योंको भी करना है, अतः जहाँतक सम्भव हो, हमें संसारके कार्य करते हुए ही मनको भगवच्चरणोंमें लीन करनेका जीतोड़ परिश्रम करना चाहिये। ऐसा अभ्यास बराबर करनेसे ही मनके संकल्प सदा शुभ और वासनारहित होंगे और संसारमें रहते हुए भी हम जीवन्मुक्त माने जायँगे।

ब्रह्मलीन परमश्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके अमृतोपदेश

१—कर्मोंका अनुष्ठान करते समय भी चित्तसे भगवान्‌को मत भूलो। पाप, प्रमाद और आलस्यमें दुःख और दोषोंको देखकर इनसे दूर हटो। विषयासक्त, नास्तिक और प्रमादी पुरुषोंके नजदीक भी मत जाओ और दीन दुःखी मनुष्योंकी सेवा करो।

२—मान, प्रतिष्ठा, कीर्तिको कलङ्कके समान समझो। शम, दम, तितिक्षा आदि अमृतमय साधनोंका सेवन करो। काम-क्रोध-लोभ-मोहादि कूड़े-कचड़ेको निकालकर हृदयरूपी घरको पवित्र करो।

३—शीत-उष्ण, सुख-दुःखादि क्षणिक और नाशवान् हैं, इसलिये इनसे व्यथित मत होओ अर्थात् सदा समचित्त रहो या पूर्वकृत कर्मोंके अनुसार ईश्वरका किया हुआ विधान समझकर इनको सहर्ष स्वीकार करो।

४—शील, विद्या, गुण, त्याग और तेज आदिमें जो वृद्ध हैं, ऐसे सदाचारी सज्जन महात्माओंके चरणोंका सेवन करो। ऐसे पुरुषोंका सङ्ग तीर्थ-सेवनसे भी बढ़कर है। इसलिये कुतर्कको छोड़कर उनके दिये हुए अमृतमय उपदेशका भगवद्वाक्योंके समान आदर करो। अथवा निर्जन पवित्र एकान्त स्थानमें बैठकर ध्यानसहित भगवान्‌के नामका जप तथा भगवत्तत्त्वका विचार करो।

५—संध्या अत्यन्त प्रेमपूर्वक करनी चाहिये, अर्थ-पर ध्यान रखते हुए गायत्रीमन्त्रका जप करना चाहिये तथा—

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

—इस मन्त्रका भी प्रेम और भक्तिपूर्वक जप-कीर्तन करना चाहिये।

६—सब भाइयोंको गीताका अर्थ समझनेके लिये विशेष प्रयत्न करना चाहिये। गीताका खूब अभ्यास करे; जिस समय पाठ करे, उस समय अर्थपर खूब ध्यान रखे। पहले अर्थ पढ़ ले, पीछे श्लोक पढ़े।

७—अपने घरपर रहते हुए भी हर एक भाईको एकान्त-सेवन करते रहना चाहिये। एकान्तमें भगवान्‌का ध्यान करे। पहले विचार करे कि आत्माका कल्याण कैसे होगा। यदि कोई विचार न सूझे तो भगवान्‌से प्रार्थना करे—

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्॥
(गीता २।७)

'कायरतारूप दोषसे उपहत हुए स्वभाववाला और धर्मके विषयमें मोहितचित्त हुआ मैं आपसे पूछता हूँ कि जो साधन निश्चय ही कल्याणकारक हो, वह मेरे लिये कहिये। क्योंकि मैं आपका शिष्य हूँ, इसलिये आपकी शरण हुए मुझको शिक्षा दीजिये।'

८—सेवाका अभ्यास डालना चाहिये। हमलोगोंमें सेवाका अभ्यास बहुत कम है। अपने घरपर आये हुए अतिथिका खूब सत्कार करना चाहिये। यदि कोई सत्सङ्गी मिले तो उससे भगवद्विषयक प्रश्न करे। भगवत्सम्बन्धी बातोंकी खोजमें खूब तत्परतासे रहे। यदि कोई सत्सङ्ग करके आया हो अथवा कोई सत्सङ्ग-सम्बन्धी पत्र मिला हो तो आपसमें मिलकर चर्चा करनी चाहिये।

९—जो साधन बतलाया गया हो, उसे कठिन न समझे। सदा ऐसा साहस रखे कि दुर्गुण-दुराचार आ ही कैसे सकता है। यदि हम सावधान रहेंगे तो चोर हमारे घरमें कैसे घुस सकता है।

१०—वाणीके संयमपर खूब ध्यान रखना चाहिये।

सदा विचारकर बोले। वाणीके तपका बहुत बड़ा महत्त्व है। नेत्रोंके संयमकी भी बड़ी आवश्यकता है। संसारी पदार्थोंकी ओर नेत्रोंको न जाने दे; ऐसा न हो, तो स्त्रियोंकी ओर तो उनकी प्रवृत्ति होने ही न दे। यदि चले जायँ तो उपवास करे। ऐसी चेष्टा करनेसे अच्छा सुधार हो सकता है। हाथोंका भी संयम करे, उनसे कोई कुचेष्टा न करे। कामवृत्तिको जड़से उखाड़ डाले। क्रोधको तो ऐसा जीते कि सामनेवाला मनुष्य कितना ही उत्तेजित हो जाय, स्वयं शान्त ही रहे।

११—दूसरोंका उपकार करनेकी आदत डालनी चाहिये। यह बड़े महत्त्वकी बात है कि अपनेसे किसीका उपकार बन जाय। किंतु वह उपकार होना चाहिये उदारता और दयाबुद्धिसे।

१२—प्रत्येक मनुष्यके साथ जो व्यवहार किया जाय, उसमें स्वार्थदृष्टिको त्याग देना चाहिये। व्यवहार स्वार्थसे ही बिगड़ता है। एक स्वार्थके त्याग देनेसे ही व्यवहार सुधर जाता है।

१३—हमारे द्वारा छोटे-छोटे जीवोंकी बहुत हिंसा होती है। हमें चलने, हाथ धोने, कुल्ला करने तथा मल-मूत्रका त्याग करनेमें इस बातका ध्यान रखना चाहिये। हम इन जीवोंके जीवनका कुछ मूल्य नहीं समझते। किंतु स्मरण रखना चाहिये कि इस उपेक्षाके कारण बदलेमें हमें भी ऐसी ही निर्दयताका शिकार होना पड़ेगा। जो मनुष्य जीवोंकी हिंसाका कानून बनाता है, उसे तरह-तरहके कष्ट उठाने पड़ेंगे। यदि कोई पुरुष कुत्तेको रोटी देना बंद करेगा तो उसे भी कुत्ता बनकर भूखों मरना पड़ेगा। यदि किसीने म्युनिसिपैलिटीमें कुत्तोंको मारनेका कानून बनाया तो उसे भी कुत्ता बनकर निर्दयतापूर्वक मृत्युका सामना करना पड़ेगा। कसाइयोंकी तो बड़ी ही दुर्दशा होगी। धन्य है उन राजाओंको, जिनके राज्यमें हिंसा नहीं थी।

१४—व्यापारमें नियम कर ले कि मुझे झूठ या कपटका व्यवहार नहीं करना है। खानेको न मिले तो भी कोई परवा मत करो। मेरा तो विश्वास है कि सचाईका व्यवहार जैसा चलता है, वैसा झूठ-कपटका कभी नहीं चल सकता। पहले मिथ्याभाषण किया है, इसलिये आरम्भमें लोग विश्वास नहीं करते, तो कोई चिन्ता नहीं। पहले कियेका प्रायश्चित्त भी तो करना ही चाहिये। यदि यह सूत्र याद रक्खा जाय कि 'लोभ ही पापका मूल है' तो व्यवहारमें पाप नहीं हो सकता।

१५—हमारे साथ पथप्रदर्शकके रूपमें गीतादि शास्त्रोंके रहते हुए भी यदि हमारी दुर्गति हो तो बड़ी लज्जाकी बात है। श्रीमद्भगवद्गीताकी ध्वजा फहरा रही है, फिर हमारी अवनति क्यों होनी चाहिये ? हमें भजन करनेकी स्वतन्त्रता है, फिर संसारमें भगवान्‌का नाम रहते हुए भी हमारी दुर्गति क्यों हो।

१६—कुसङ्ग कभी न करना चाहिये। जो पुरुष विषयी, पामर, दुराचारी, पापी या नास्तिक हैं, उनका सङ्ग कभी न करे और न उन्हें अपने पड़ोसमें ही बसाये। उनसे सर्वदा दूर रहे। वे प्लेगकी बीमारीके समान हैं। इसलिये उनके आचरण और दुर्गुणोंसे घृणा करे, किंतु उनसे घृणा न करे।

१७—किसी भी प्रकारका न्याय करना हो तो समदृष्टि रखे; यदि विषमता करनी हो तो अपने पक्षमें पौने सोलह आने रखे और विपक्षके लिये सवा सोलह आने।

१८—यदि कोई कठिन कार्य आकर प्राप्त हो तो उसे स्वयं करनेको तैयार हो जाय।

१९—हानि-लाभ, जय-पराजय एवं सुख-दुःखादिमें समानरूपसे ईश्वरकी दयाका दर्शन करे।

२०—ईश्वरकी प्राप्तिमें खूब विश्वास रखे। ऐसा विचार करे कि मेरे और कोई आधार नहीं है, केवल

भगवान्‌की दयालुताको देखकर मुझे पूरा भरोसा है कि वे अवश्य मेरी भी सुधि लेंगे।

२१—सब प्रकारके विषयोंको विषके समान त्याग देना चाहिये। विष मिला हुआ मधुर पदार्थ भी सेवन करनेयोग्य नहीं होता; इसी प्रकार विषय सुखरूप जान पड़े तो भी त्याज्य ही है।

२२—ज्ञान या प्रेम किसी भी मार्गका अवलम्बन करके उत्तरोत्तर उन्नति करता चला जाय। कलकी अपेक्षा आज कुछ-न-कुछ साधन बढ़ा ही देना चाहिये। इस प्रकार निरन्तर उन्नति करे। चलते-फिरते, उठते-बैठते—किसी भी समय एक मिनटके लिये भी भगवान्‌को न भूले। भगवान् कहते हैं—

'तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।'
(गीता ८। ७)

'अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।'
(गीता ८। १४)

२३—भगवान्‌की दया और प्रेमका स्मरण कर हर समय भगवत्प्रेममें मुग्ध और निर्भय रहे। भगवच्चिन्तनमें खूब प्रेम और श्रद्धाकी वृद्धि करे। यह बड़ी ही मूल्यवान् चीज है।

२४—कुतर्क करनेवालोंसे विशेष बातें नहीं करनी चाहिये। अपने हृदयकी गूढ़ और मार्मिक बातें हर किसीसे नहीं कहनी चाहिये।

२५—अपने गुणोंको छिपाये तथा किसीकी निन्दा-स्तुति न करे। करनी ही हो तो स्तुति भले ही करे। निन्दा अपनी की जा सकती है, स्तुति करनेयोग्य तो केवल एक परमात्मा ही हैं।

२६—सबके साथ यथायोग्य व्यवहार एवं शास्त्रोक्त उत्तम कर्मोंका आचरण करना 'सदाचार' है। इससे दुर्गुण और दुराचारोंका नाश होकर बाहर और भीतरकी पवित्रता होती है तथा सद्गुणोंका आविर्भाव होता है।

२७—दूसरेके अवगुणोंकी तरफ खयाल न करके उसके गुणोंको ग्रहण करना चाहिये।

२८—मान, बड़ाई, प्रतिष्ठाकी इच्छा तो कभी करनी ही नहीं; किंतु अपने-आप प्राप्त होनेपर भी कल्याणमें बाधक होनेके कारण मनसे उसे स्वीकार न करके मनमें दुःख या संकोचका अनुभव करना चाहिये।

२९—परेच्छा या दैवेच्छासे मनके प्रतिकूल पदार्थोंके प्राप्त होनेपर भी उन्हें ईश्वरका भेजा हुआ पुरस्कार मानकर आनन्दित होना चाहिये। ऐसा न हो सके तो अपने पापका फल समझकर ही सहन करना उचित है।

३०—बड़ोंकी सभी आज्ञा पालनीय है; किंतु जिसके पालनसे उन्हींका या और किसीका अनिष्ट हो या जिसके कारण ईश्वरकी भक्तिमें विशेष बाधा आती हो, वहाँ उपराम हो सकते हैं।

३१—कितनी भी आपत्ति आ जाय, पर धैर्य और निर्भयताके साथ सबको सहन करना चाहिये; क्योंकि भारी-से-भारी आपत्ति आनेपर भी निर्भयताके साथ उसे सहन करनेसे आत्मबलकी वृद्धि होती है। यों समझकर आपत्तिमें भी धैर्य और धर्मको नहीं त्यागना चाहिये।

३२—झूठ, कपट, छल, छिद्र, जुआ, झगड़ा, विवाद, निन्दा, चुगली, हिंसा, चोरी, जारी आदिको महापाप समझकर इन सबका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये।

३३—काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग-द्वेष, ईर्ष्या, वैर, अहंकार, दम्भ, दर्प, अभिमान और घृणा आदि दुर्गुणोंको सारे पाप और दुःखोंका मूल-कारण समझकर हृदयसे हटानेके लिये विशेष प्रयत्नशील रहना चाहिये।

३४—प्रत्येक भाई-बहिनको अपने कल्याणके लिये नित्य नियमपूर्वक अधिक-से-अधिक संख्यामें भगवन्नाम-का जप करना चाहिये। रोज जितना करते हैं, उससे अधिक करनेकी चेष्टा करनी चाहिये।

३५—चलते-फिरते, उठते-बैठते, काम-काज करते—सब समय भगवान्‌को याद रखनेका अभ्यास करना चाहिये। पहले आध घंटे, फिर पंद्रह मिनटके अन्तरसे, फिर दस मिनटपर, फिर पाँच मिनटपर—इस प्रकार करते-करते निरन्तर भगवत्स्मरण करनेकी चेष्टा करनी चाहिये।

३६—एकान्तमें बैठकर करुणभाव और गद्गद वाणीसे भगवान्‌से प्रार्थना करनी चाहिये कि 'हे परमेश्वर ! मैं हृदयसे आपकी स्मृति चाहता हूँ, आपसे आपकी स्मृति बनी रहनेकी भीख माँगता हूँ।' इस प्रकार नित्य अपने-अपने भावोंके अनुसार भगवान्‌से कातर प्रार्थना करे। एक मिनटकी सच्ची प्रार्थनासे भी बड़ा लाभ होता है।

३७—नित्य नियमपूर्वक सत्सङ्ग करे; यदि कहीं सत्सङ्ग न मिले तो सद्ग्रन्थोंका स्वाध्याय एवं भगवद्-वचनोंका सङ्ग करे।

३८—समय बड़ा मूल्यवान् है। मनुष्यका शरीर मिल गया, यह भगवान्‌की बड़ी दया है। अब भी यदि भगवत्प्राप्तिसे वञ्चित रह गये तो हमारे समान मूर्ख कौन होगा। हमें अपने अमूल्य समयको अमूल्य कार्यमें ही लगाना चाहिये। भगवान्‌की स्मृति ही अमूल्य है, इस प्रकार नित्य विचार करना चाहिये। (संकलित)

प्रसन्न-मुद्रासे लाभ और उदासीसे हानि

वह व्यक्ति, जो सदा प्रसन्न रहता है और बड़ी-से-बड़ी विपत्ति आ जानेपर भी जिसके मुखमण्डल-पर बराबर प्रसन्नता बनी रहती है, जो कभी भी और कैसे भी वातावरणमें दुःखी अथवा निराश नहीं होता, वह अपनी इस आनन्दमयी प्रकृतिसे केवल खुदको ही लाभ नहीं पहुँचाता, बल्कि उन व्यक्तियोंको भी प्रेरणा देता है, जो अपना धैर्य खो चुके होते हैं, जिनकी आशा निराशामें बदल चुकी होती है और जो अपनेको बेसहारा समझने लगते हैं। ऐसे व्यक्तिके चेहरेपर सदैव मुस्कान बनी रहती है, चाहे उसके जीवनका हर पासा उलट जाय, चाहे हर बात उसके प्रतिकूल होने लगे। ऐसा व्यक्ति असाधारण होता है। उसका निर्माण जड-प्रकृतिपर विजय पानेके लिये होता है।

अंग्रेजीके सुप्रसिद्ध विचारक श्रीकार्लाइलका कथन है—'कुछ व्यक्ति केवल कँगले होनेके काबिल होते हैं।' ऐसे व्यक्ति एक प्रकारका मानसिक विष फैलाते हुए प्रतीत होते हैं। ऐसा लगता है मानो उनमें केवल मानसिक विष फैलानेकी ही शक्ति काम कर रही है। वे अपनेसे मिलने-जुलनेवाले प्रत्येक व्यक्तिके मनमें अन्धकारमय और निराशाजनक विचार पैदा करते रहते हैं। इस प्रकार वे अपनी उदासीका भयावह अन्धकार प्रत्येक व्यक्तिके मनपर डालते हैं। उनका विश्वास होता है कि आनन्द नामकी वस्तु उनके लिये नहीं बनी और उदासीका पर्दा किसी भी हालतमें उनके मनसे नहीं उठ सकता। ऐसे व्यक्ति सदा निराश ही बने रहते हैं। पर वास्तवमें यह सब खामखयाली है। कोई भी मनुष्य इस दुनियामें दुःखी अथवा दरिद्र होनेके लिये नहीं आया। न तो किसी व्यक्तिका जन्म उदासी फैलाने अथवा दूसरोंका आनन्द नष्ट करनेके लिये हुआ है। परमात्माकी इच्छा यह है कि उसके सब पुत्र प्रसन्न रहें।

अब आप सोचिये और बताइये कि आपको इस बातका क्या अधिकार है कि आप चेहरेपर उदासीनता बिखेरे, मानसिक विष फैलाते हुए, भय, शङ्का और निराशाके कीटाणु प्रसारित करते रहें? सच तो यह है कि जिस तरह आपको किसीको चोट पहुँचानेका अधिकार नहीं, उसी तरह आपको यह अधिकार नहीं कि आप किसी भी प्रकारसे दूसरोंके सुखोंपर पानी फेर दें अथवा अपनी मनहूसियतसे उनकी आनन्दमयी प्रकृतिपर उदासी फेरनेका प्रयत्न करें। —स्वेट मार्डन

परमार्थकी पगडंडियाँ

[नित्यलीलालीन परमश्रद्धेय श्रीभाईजी (श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार) के अमृत वचन]

मनुष्यका शरीर क्षणभङ्गुर है, कब चला जाय, कुछ पता नहीं। अतएव सदा तैयार रहना चाहिये। तैयार रहनेका अर्थ है—संसारके किसी भी प्राणी-पदार्थमें तथा अपने शरीरमें भी आसक्ति-ममता न रह जाय। आसक्ति-ममता होनेपर भी मृत्यु छोड़ेगी नहीं, वह तो ले ही जायगी। पर आसक्ति-ममता होनेसे दुःखमय मृत्यु होगी और मृत्युके पश्चात् लोकान्तरमें भी दुःख ही भोगने पड़ेंगे। अतएव बुद्धिमानी इसीमें है कि आसक्ति-ममताका नाश कर दिया जाय अथवा सारी आसक्ति-ममता सब जगहसे हटाकर एकमात्र श्रीभगवान्‌में ही जोड़ दी जाय।

मृत्युको अत्यन्त समीप मानकर मनुष्यको शीघ्र-से-शीघ्र यह काम कर लेना चाहिये। इसकी ओर ध्यान न देकर विषयासक्ति तथा प्राणी-पदार्थोंकी ममतामें बँधे रहना महान् प्रमाद है।

× × × ×

भगवान्‌का स्मरण ही जीवनका परम धन, परम लाभ और परम सौभाग्य है। यही परम सुख और परम बुद्धिमत्ता है। भगवान्‌की विस्मृति ही सबसे बड़ा अपराध है। भगवान्‌की मनमानी लीलाकी कल्पना करके निरन्तर उसका चिन्तन करना चाहिये। भगवान् सत्य हैं, सर्वत्र हैं। हम जिस रूपमें उनकी लीलाका चिन्तन करेंगे, वे लीलामय सचमुच उसी रूपमें हमारी अनुभूतिमें आने लगेंगे। तुम बार-बार उनकी मङ्गलमयी लीलाका चिन्तन किया करो। उन्हींमें मनकी सारी आसक्ति तथा ममता हो जानेपर वे कभी हृदयसे निकलेंगे ही नहीं। वे हमारे हृदयमें छिपे तो अब भी हैं ही, फिर तो उनकी प्रत्यक्ष अनुभूति होने लगेगी।

भगवान्‌का स्मरण सदा होता रहे; मनमें सांसारिक विषयोंका आकर्षण एकदम न रहे तथा भगवान्‌के मङ्गलमय स्मरणमें मन लगा रहे—यही परम सौभाग्य है।

× × × ×

मनमें कहीं बुराई दीखनेपर अवश्य ही उसे ललकारना चाहिये। प्रियतम प्रभुकी चीजपर दूसरा क्यों दृष्टि डाले? इसके लिये प्रभुसे यह कहनेमें कोई आपत्ति नहीं कि 'प्रभो! तुम्हारे घरमें चोर क्यों घुसना चाहते हैं—इन्हें तुम हटाओ।' बुरी बात तो तब होती है, जब ये चोर प्यारे लगते हों—पर यह भी पता नहीं कि इन चोरोंके वेषमें भी प्रियतम ही आते हों और इस रूपमें आकर हृदयके बचे-खुचे कलुषको हरते हों। उनकी विचित्र लीला-भङ्गिमा हुआ करती है। वे नये-नये स्वाँग रचा करते हैं। पर प्रेमीके हृदयके पास उनके सिवा दूसरा कोई आ नहीं सकता; उसके पवित्रतम हृदय-देशके चारों ओर प्रभुका पहरा रहता है; क्योंकि वह उनका लीला-विहार-स्थल, पवित्र अन्तःपुर है। वहाँ दूसरे किसीका प्रवेशाधिकार नहीं है।

× × × ×

तुमने लिखा है—'मैं दिन-रात संसारमें ही रहता हूँ और यहीं रहना है।' पर तुमको इसके लिये चिन्ता नहीं करनी चाहिये। किसी भी अवस्थामें, कहीं भी रहना हो—तुम्हें यह मानना चाहिये कि मेरे प्रभु सर्वत्र मेरी रक्षा करते हैं और करेंगे। अपनेको कभी निराश्रय, असहाय नहीं मानना चाहिये। समस्त योगक्षेमका वहन वे सदा-सर्वदा करेंगे, कर रहे हैं—यह दृढ़ विश्वास मनमें रहना चाहिये।

भक्तसे भगवान् तो कहा करते हैं—

हो रहो मेरे, निरन्तर चरणसे चिपटे रहो।
दूर मत होओ कभी, बस, हृदयसे लिपटे रहो॥
पकड़कर फिर छोड़ना मुझसे न बनता है कभी।
रस पिलाता दे मधुरतम भाव मैं उरके सभी॥

अतएव संसारकी ओरसे मनमें सदा उपेक्षा रखकर नित्य नयी-नयी मधुरतम और पवित्रतम भाव-सुधा-तरंगोंमें उछलते-कूदते रहना चाहिये। जगत्‌में मन शान्त रहे तथा प्रेमसमुद्रमें सदा विक्षुब्ध रहे और नयी-नयी तरंगोंसे भगवान्‌को नहलाता रहे।

× × × ×

भगवान् सदा अपनी ओर ही देखते हैं। जो उनका हो गया है, उनके दोषोंकी ओर वे देखते ही नहीं, यह उनका सहज स्वभाव, विरद है—'जन अवगुन प्रभु मान न काऊ।' पर यथार्थ बात तो यह है कि जिसने अपनी सारी ममता प्रभुके चरणोंमें केन्द्रित कर दी है और जिसको भगवान्‌ने, लोभीके हृदयमें बसनेवाली धनराशिकी भाँति अपने हृदयमें बसा लिया है, उसमें भी क्या कभी कोई दोष रह सकता है। जिसको भगवान् अपनी स्मृतिमें रखते हैं, वह भगवान्‌को कैसे भूल सकता है। उसके समान परम भाग्यशाली तो वही है।

× × × ×

प्रेम न होनेपर ही अपनेमें प्रेम दीखा करता है; पर जहाँ नहीं दीखता और सदा कमी ही दीखती है, वहीं प्रेम हुआ करता है। भगवत्प्रेमी सदा ही अपनेको दीन-हीन मानता है और प्रेमास्पद प्रभुकी अपने प्रति अकारण प्रीतिका अनुभव करता है। प्रेम वस्तुतः गुणरहित तथा कामनारहित ही होता है। मुझमें गुण है, इसलिये प्रभु मुझसे प्रेम करें—यह गुणाभिमान प्रेमीमें नहीं होता। न वह गुण दिखाकर प्रीति चाहता है, न वह प्रेमास्पदमें गुण है—इसलिये प्रेम करता है।

× × × ×

शरीर तो पाञ्चभौतिक है—यह तो नष्ट होगा ही; अतएव इसकी चिन्ता करनेमें कोई लाभ नहीं। जबतक रहना हो, रहे; जाना हो चला जाय। क्षणभर भी भगवान्‌के साथ सम्पर्क न छूटे।

× × × ×

तुम्हें अपनेमें दोष दीखते हैं, यह तो गुण है। जिसको अपने दोष दीखते हैं, वही दोषोंसे मुक्त हो सकता है। जिसको अपने दोष नहीं दीखते या जो दोषोंको गुणरूप देखता है, वह कभी दोष-मुक्त नहीं हो सकता। अपनेमें कितने ही दोष हों, भगवान् इन दोषोंको देखकर हमसे कभी घृणा नहीं करते; कर सकते नहीं। हमारे दोषोंका पार नहीं, उनके प्रेमका पार नहीं। उनकी आदतकी ओर देखकर—उनके विरदकी ओर देखकर हमें सदा परम उत्साहवान् रहना चाहिये। मनमें यह दृढ़—अतिदृढ़ निश्चय रखना चाहिये कि उन परम सुहृद् श्यामसुन्दरने हमको अपना लिया है, अपना बना लिया है। अतएव अब हमें जरा भी चिन्ता नहीं करनी चाहिये। अपनी चीजको वे आप ही ठीक करेंगे। अपना काम तो, बस, उनका मधुर चिन्तन करना है। यह चिन्तन उत्तरोत्तर बढ़ता रहे, पवित्रतम, मधुरतम होता रहे। जगत्, जगत्‌के भोग, जगत्‌के लोग—सब हृदयसे निकल जायँ। एकमात्र श्रीश्यामसुन्दर ही सारे हृदयमें सदा छाये रहें।

× × × ×

नित्य-निरन्तर श्रीभगवान्के स्मरणमें ही परमानन्दकी अनुभूति होती रहे। जगत् तथा जगत्के विषयोंकी स्मृति हो ही नहीं। विषयासक्ति, विषयकामना बहुत छिपकर भी रहा करती है—अपनेको त्यागी मान लेनेवाले तथा बाहरसे विषयोंका त्याग कर देनेवाले लोगोंमें भी। अतएव इनसे सावधान रहना चाहिये। सदा-सर्वदा विषय-वैराग्ययुक्त चित्त केवल भगवच्चरणोंमें अनुरक्त रहना चाहिये। इसीमें परम हित है। हम सारे संसारको भूल जायँ। कहीं संसार याद आये ही तो वह भगवान्के सम्बन्धको लेकर। हम केवल इतना ही चाहें कि सब कुछ चला जाय—और चला जाना ही चाहिये, यदि वह परम प्रभु भगवान्की विस्मृतिमें हेतु हो—पर भगवान्के साथ सदा मनका अटूट सम्बन्ध बना रहे। हम कहीं भी जायँ, किसी भी योनिमें जायँ, उनके साथ हमारा सम्पर्क प्रत्यक्ष रहे—

कुटिल करम लै जाहिं मोहि, जहँ-जहँ अपनी बरिआई।
तहँ-तहँ जनि छिन छोह छाड़ियो कमठ-अंड की नाईं॥

× × × ×

मन निरन्तर भगवान्की स्मृतिमें ही लगा रहे, दूसरेका चिन्तन हो ही नहीं। समर्पण पूर्ण होना चाहिये। जिस मनमें भगवान् बस गये, उसमें कभी किसी भी हालतमें दूसरेको स्थान नहीं मिलना चाहिये। गोपियोंने तो उद्धवजीसे कहा था कि परमात्माके ध्यानके लिये भी मनमें स्थान नहीं रहा। इसी प्रकार दिन-रात, स्वप्न-जागरणमें, सदा-सर्वदा एकमात्र प्रभु ही चित्तमें रहें, प्रभुमें ही चित्त रहे। प्रभुका चित्त ही अपना चित्त बना रहे।

× × × ×

मेरे लिये तुमने जो कुछ लिखा, वह तुम्हारी अपनी धारणा है। मैं अपनेको जानता हूँ। जहाँतक मेरा अनुभव है—मैं एक साधारण प्राणी हूँ। हाँ, एक विशेषता तो अवश्य है—वह यह कि श्रीभगवान्की मुझपर अहैतुकी कृपा अनन्त है, अपार है। यह मेरे किसी गुण या साधनसे नहीं है, उनके स्वभावसे ही है। यही मेरा सर्वस्व, धन, साधन, सिद्धि—सब-कुछ है। मैं कुछ करता हूँ, कर सकता हूँ, ऐसा कुछ भी नहीं है। हाँ, मैं हृदयसे चाहता हूँ—तुम्हारा जीवन प्रभुके चरणोंमें सदाके लिये विलीन हो जाय। तुम्हें प्रभुके पवित्र प्रेम-समुद्रमें सदाके लिये डूब जानेका परम सौभाग्य मिले। तुम्हारे जीवनका प्रत्येक क्षण परमपवित्र, सर्वथा निर्मल, उज्ज्वल, जगत्स्मृति-शून्य, केवल मधुर भगवत्स्मृतिमय हो जाय। दुःख, विषाद, शोक, निराशा, चिन्ता, दोष, पाप तथा काम-क्रोधादि दुर्गुणोंका गन्ध-लेश भी तुम्हारे जीवनमें न रहे। तुम्हारा जीवन सदा-सदाके लिये पवित्रतम प्रभु-प्रेमका जीवन बन जाय।

× × × ×

भगवान्की बड़ी कृपा है। उनकी कृपाके अनुभवसे बहुत आनन्द रहता है। हर अवस्थामें उनकी अहैतुकी प्रीति तथा अकारण कृपाका अनुभव करते रहना चाहिये। संसारकी सभी परिस्थितियोंमें उनकी कृपा देखकर लाभ उठाना चाहिये। मनमें सदा इस बातको लेकर परम प्रसन्न होना चाहिये कि भगवान् मेरे हैं तथा उन्होंने मुझको पूर्णरूपसे अपना लिया है। अतएव सदाके लिये वे मुझे अपनाये ही रहेंगे, क्योंकि वे अपनाकर छोड़ना जानते ही नहीं। जीवन-मृत्यु—सभीमें उनका सङ्ग रहेगा, सचमुच रहेगा ही। भगवान्को हम ही भूलते हैं, वे तो कभी भूलते नहीं। छोड़ना तो वे जानते ही नहीं। पर हमारे मनमें विश्वासकी कमी होनेसे हम ऐसा अनुभव नहीं कर पाते।

× × × ×

भगवत्स्मृति अधिक-से-अधिक हो, अधिक-से-अधिक मधुर हो, अधिक-से-अधिक जगत्‌की चिन्ता-को हरनेवाली हो, अधिक-से-अधिक संनिधिका अनुभव करानेवाली हो, अधिक-से-अधिक पवित्रतम भावोंका उदय करनेवाली हो, जगत्‌के शोक, भय, विषाद, मोह, ममता, अहंता—सबका सर्वथा नाश करनेवाली हो। ऐसी स्मृतिके लिये मनमें दृढ़ संकल्प करके भगवान्‌से प्रार्थना करनी चाहिये।

× × × ×

भगवान्‌के मङ्गलविधानके अनुसार जब जहाँ रहनेका विधान होगा, तब वहाँ रहना—जाना होगा ही। अतएव कर्तव्यबोधसे यथायोग्य चेष्टा की जाती है, मनमें बड़ी शान्ति है। भगवान्‌की बड़ी कृपा है और वह कृपा सर्वत्र, सर्वदा, सर्वथा सबपर है। इससे सदा ही प्रसन्नता और निश्चिन्तता है।

(पुराने पत्रोंसे संगृहीत)

'श्रीभगवन्नामकौमुदी'के कुछ निष्कर्ष—३

(लेखक—अनन्तश्री स्वामी अखण्डानन्दजी सरस्वती)

[गताङ्क पृष्ठ ८९८से आगे]

यह बात सर्वथा स्पष्ट है कि स्मार्त प्रायश्चित्त और संकीर्तन-भक्ति मिल-जुलकर पापक्षयके साधन नहीं हैं; परंतु यदि यह मान लिया जाय कि एक विशेष प्रकारके अधिकारीके लिये नाम-संकीर्तन पापक्षयका साधन है और दूसरे प्रकारके अधिकारीके लिये स्मार्त प्रायश्चित्त, तो व्यवस्था ठीक हो जाती है। अथवा इस बातको इस प्रकार भी समझ लें कि जिसकी रुचि हो, वह नाम-कीर्तनसे प्रायश्चित्त कर ले और जिसकी उसमें रुचि न हो, वह स्मार्त प्रायश्चित्त कर ले। इस विकल्पसे भी संगति बैठ जाती है।

आगे हम यह सिद्ध करेंगे कि ये दोनों प्रक्रियाएँ असंगत हैं। यहाँ यह कहा जा सकता है कि अधिकारी-के कुछ विशेषण होते हैं—जैसे वह अनुतप्त हो, अज्ञानी हो, श्रद्धालु हो, भक्त हो इत्यादि। अधिकारी-के इन विशेषणोंसे युक्त होनेपर ही कीर्तन उसे पवित्र करेगा, अर्थात् कीर्तनके लिये इन विशेषणोंकी अपेक्षा होगी। तब वह निरपेक्ष साधन नहीं रहेगा, सापेक्ष साधन हो जायगा। आगे चलकर एक-एक अपेक्षाकी परीक्षा करके कीर्तन उनसे शून्य है—यह सिद्ध किया जायगा।

रही बात विकल्पकी—इस सम्बन्धमें हमारा कहना यह है कि सुगम साधनके रहते कठिन साधनमें किसीकी रुचि नहीं होगी। लघुके बदले गुरु साधन कौन करेगा ? फिर तो स्मार्त प्रायश्चित्तका नितान्त बाध ही हो जायगा। स्मृतियोंमें किसी-किसी पापका प्रायश्चित्त बारह वर्षतक व्रत करना भी बताया गया है। नाम-कीर्तन सुगम है एवं तत्काल पूर्ण हो जाता है। ऐसी स्थितिमें व्यर्थ हो जायँगे स्मार्त प्रायश्चित्त। यदि यह कहा जाय कि 'कीर्तन स्मार्त प्रायश्चित्तका खण्डन तो नहीं करता, जो जिस साधनको करना चाहे, कर सकता है, तो ऐसी स्थितिमें यदि दोनों आदेश समान हों और दोनोंका फल एक हो तो सुगमानुगामिनी इच्छाका कोई परित्याग नहीं कर सकता और दुष्कर साधन पोथियोंमें धरा-का-धरा रह जायगा। 'विधि-वचनोंका फल प्रवृत्ति है और किसी विधि-विधान-में लोगोंकी प्रवृत्ति न होना भी एक प्रकारका बाध है'—ऐसा कुमारिलभट्टका कथन है। इस आपत्तिका निराकरण आगे किया जायगा।

केवल कृष्णानुसरण

अब व्यवस्थापर विचार करें। पता नहीं क्यों,

कोई-कोई सज्जन स्मृतियोंके प्रति बड़ा अनुराग रखते हैं और पुराणोंसे थोड़ा-थोड़ा डरते हैं। वे कहते हैं कि बड़े पापका बड़ा प्रायश्चित्त, छोटेका छोटा, जान-बूझकर किये हुएका बड़ा और अनजानमें किये हुए-का छोटा, प्रकटका बड़ा, एकान्तमें किये हुएका छोटा, स्मार्त प्रायश्चित्त बड़ा है और पौराणिक छोटा—ऐसी व्यवस्था कर लेनेमें स्मार्तोंको बड़ी प्रसन्नता होती है; परंतु थोड़ा इन वचनोंपर भी ध्यान दीजिये—

पापे गुरूणि गुरुणि स्वल्पान्यल्पे च तद्विदः।
प्रायश्चित्तानि मैत्रेय जगुः स्वायम्भुवादयः॥
प्रायश्चित्तान्यशेषाणि तपःकर्मात्मकानि वै।
यानि तेषामशेषाणां कृष्णानुस्मरणं परम्॥

इसका आशय यह है कि मन्वादि धर्माचार्योंने बड़े पापोंके लिये बड़े और छोटे पापोंके लिये छोटे तपःकर्मात्मक प्रायश्चित्तोंका उपदेश किया है; परंतु उन सब पापोंका एकमात्र सम्पूर्ण प्रायश्चित्त है—श्रीकृष्णा-नुस्मरण। यह वचन स्वमुखसे ही लघु-गुरु पापोंके प्रायश्चित्त-विषयक भेद-भावका निराकरण करके केवल श्रीकृष्णानुस्मरणरूप प्रायश्चित्तका निर्देश करता है।

क्या कृष्णानुस्मरण निदिध्यासन है ?

एक सज्जन, जो अपनेको ब्रह्मविद्याका एकान्त पक्षपाती मान बैठे थे, बीचमें आ धमके और उन्होंने एक नया ही पूर्वपक्ष उपस्थित कर दिया।

उन्होंने कहा—“ठीक है, ठीक है; कौन नहीं कहता कि श्रीकृष्णानुस्मरण महापातकोंसे लेकर प्रकीर्ण पातक-पर्यन्त समस्त पापोंका संहारक है। परंतु जानते हो, वह कृष्णानुस्मरण क्या है? अरे, वह तो ब्रह्मविद्या है। 'कृषति'का अर्थ होता है—संसारको विदारण कर देता है। और 'कर्षति'का अर्थ होता है—अज्ञानका नाश कर देता है। 'कृषति इति वा कर्षति इति वा कृष्णः।' यह श्लोक तो बहुत प्रसिद्ध है, जिसमें 'कृष्' को सत्तावाचक और 'ण'को निर्वृतिवाचक कहा गया है। दोनोंकी एकता अर्थात् परमब्रह्म ही 'कृष्ण' है। उस निरवद्य सर्वात्मा सदानन्द परमात्माका पुनः-पुनः चिन्तन ही 'कृष्णानुस्मरण' है। सजातीय प्रत्ययकी आवृत्ति अथवा विजातीय प्रत्ययका तिरस्काररूप निदिध्यासन ही कृष्णानुस्मरण है। वह आत्मतत्त्वके साक्षात्कारके कारणभूत श्रवणके प्रति फलोपकारक है। वही तत्त्वज्ञानके प्रतिबन्धक पापोंका प्रध्वंस करता है। निदिध्यासनके द्वारा पापोंकी निवृत्ति होनेपर निष्प्रति-बन्ध तत्त्वज्ञानका उदय होता है। अतः 'कृष्णानुस्मरण'-का अर्थ निदिध्यासन है, नामकीर्तन नहीं।”

इसका उत्तर इस प्रकार है—“आपने जो कृष्णानुस्मरणका अर्थ परब्रह्म परमात्माका निदिध्यासन किया, यह प्रसङ्गकी दृष्टिसे सर्वथा असंगत और असुन्दर है। ठीक है, 'कृष्ण' शब्दका अर्थ ब्रह्म हो सकता है; परंतु वह तमाल-श्यामल, यशोदोत्सङ्गलालित कृष्ण-ब्रह्ममें रूढ़ है। जहाँ रूढ़ि-सिद्ध अर्थ होता है, वहाँ योग काम नहीं देता—यह प्रसिद्ध न्याय है। यदि व्युत्पत्ति-लभ्य यौगिक 'सदानन्द ब्रह्म' अर्थमें आपका आग्रह ही हो तो मधुररस-सिन्धु-निमग्न गोपियों, भयानकभावभीषण पूतनादि शत्रुओं तथा बहिर्मुखचित्त व्रज-पशुओं एवं लता-वृक्षोंको भी निरन्तर अखण्ड मोक्षसुखका दान करनेवाले अनन्तानन्दस्वरूप गोपाल-शिरोमणि नन्दनन्दनका ही सर्वविध योगवृत्तिसे ग्रहण होना चाहिये, निर्गुण ब्रह्मका नहीं। बार-बार ऐसा प्रयोग प्राप्त होनेके कारण 'कृष्ण' शब्दसे पहले नन्दनन्दनकी ही उपस्थिति होती है। उनका अनुस्मरण कीर्तन ही है, ध्यान नहीं। देखिये न, वाक्यशेषमें कीर्तनकी ही प्रशंसा की गयी है—

क्व नाकपृष्ठगमनं पुनरावृत्तिलक्षणम्।
क्व जपो वासुदेवेति मुक्तिबीजमनुत्तमम्॥

'जहाँसे (मर्त्यलोकमें) पुनरागमन होता है, उस स्वर्गलोकमें जानेकी और मुक्तिबीज सर्वोत्तम वासुदेव

नामके जपकी क्या तुलना है' यह सोचना ही अयुक्त है कि विधान निदिध्यासनका हो और कीर्तन-की प्रशंसा की गयी हो ।

'यह भी तो सोचिये, विद्वद्वर ! कि क्या सर्वान्तर प्रत्यग्वस्तु आत्मा कभी स्मरणके आँगनमें नाचनेके लिये उतरता है ? फिर तो उसका प्रत्यक्‌पना ही व्याहत हो जायगा । प्रत्यक् वस्तुका ग्रहण उपाधि-निराससे होता है । यहाँ नामोपाधिक स्मरण अर्थात् कीर्तन ही विवक्षित है । कीर्तनसे मनमें आये हुए नाम-नरेश अघ-संहारक होते हैं । ये ही नानाविध नरक-यातना-कंदके उन्मूलनके लिये कुदालरूप हैं । उन्हें लघु और गुरुका, छोटे कंद और बड़े कंदका कोई ध्यान नहीं है; अतः नाम-संकीर्तनके लिये बड़े पापका प्रायश्चित्त स्मृत्युक्त और छोटे पापका प्रायश्चित्त नाम—यह व्यवस्था सर्वथा असंगत है । और लीजिये—

सब पातकोंसे मुक्ति

अवशेनापि यन्नाम्नि कीर्तिते सर्वपातकैः ।
पुमान् विमुच्यते सद्यः सिंहत्रस्तैर्वृकैरिव ॥

(विष्णुपु० ६ । ८ । १९)

'विवशतासे (हठात्) नामकीर्तन करनेपर भी मनुष्य तत्काल सब पापोंसे उसी प्रकार मुक्त हो जाता है जैसे कोई सिंहसे डरे हुए भेड़ियोंसे छुटकारा पा ले ।'

यहाँ मूलमें जान-बूझकर 'सब' शब्दका प्रयोग हुआ है; उसका अर्थ है कि महापातक, उपपातक, प्रकीर्ण पातक—सभीसे मुक्ति मिल जाती है । उसमें भी विलम्ब नहीं होता । सद्यः—तत्काल । अतः कीर्तनके सम्मुख छोटे-बड़े पापोंका भेद करके संकीर्तनकी महिमा-को संकीर्ण बनानेकी कोई आवश्यकता नहीं है । श्रीमद्भागवतमें ब्रह्महत्या, सुरापान, गुरुतल्पगमन आदि महापापों तथा अन्य पातकोंका नाम गिना-गिनाकर कहा गया है कि चाहे कोई भी पापी हो, भगवन्नामोच्चारणसे उसके पापोंका नाश हो जाता है । **'सर्वेषामप्यघवताम्'** **'सर्वपातकैः'**—इन शब्दोंके रहते कीर्तनकी शक्तिमें कोई संकोच करना न्याय नहीं है । यह वचन अज्ञान-कृत अथवा रहस्यकृत पापके सम्बन्धमें भी नहीं है; क्योंकि अजामिल जानकार और जग-उजागर पापी था और उसके पापनाशके प्रसङ्गमें ही तो यह नाम-महिमा कही गयी है । विष्णुधर्मपुराणमें जान-बूझकर प्रकट-रूपमें महापातक करनेवाले क्षत्रबन्धुके तत्काल परमपूत हो जानेका वर्णन है ।

नाम-कीर्तन अधिकार-बन्धनसे मुक्त है ।

किसी-किसीका मत है कि श्रद्धा-भक्तियुक्त प्राणी ही कीर्तनादिके द्वारा पापक्षयके अधिकारी हैं और जिनमें ये नहीं हैं, वे स्मार्त प्रायश्चित्तके अधिकारी हैं । यहाँ यह विचारणीय है कि पहले श्रद्धा-भक्ति और बाद-में पापक्षयके लिये कीर्तन, इसमें साध्य-साधन-भाव कैसा है ? जब हृदयमें श्रद्धा-भक्ति है, तब पाप कहाँ और पाप-क्षयके लिये कीर्तन क्या ? श्रद्धासे, अश्रद्धासे, भक्तिसे, अभक्तिसे—कैसे भी कीर्तन करो, पहला कीर्तन पापको नष्ट कर देगा और पुनः-पुनः किया गया कीर्तन भगवद्वासनारूप श्रद्धा-भक्तिको जाग्रत् करेगा । लिङ्ग-पुराणमें कहा गया है कि **'ॐ नमो नीलकण्ठाय'** इस मन्त्रका एक बार किया गया उच्चारण ही मनुष्यको सर्व-पापोंसे मुक्त कर देता है । यह कहना भी अयुक्त है कि जिसके मनमें अपने पापोंके लिये पश्चात्ताप हो, वही नामोच्चारण करके पाप-मुक्त हो सकता है । भला, बतलाइये तो सही, कितना बड़ा पाप, कितना बड़ा पश्चात्ताप, कितना बड़ा नाम-संकीर्तन—यह नाप-तौल करता कौन फिरेगा ? यदि यह माना जाय कि 'जबतक पापकी निवृत्ति न हो अर्थात् फलकी प्राप्ति न हो, तबतक कीर्तन करना चाहिये', यह भी ठीक नहीं है; क्योंकि पाप और पापकी निवृत्ति प्रत्यक्षगम्य नहीं है, शास्त्रैकगम्य है । जब शास्त्र डंकेकी चोट कहता है कि किसी व्यक्तिका निर्देश करनेके लिये, परिहासमें, गाते समय टेकरूपमें और तिरस्कारपूर्वक भी यदि भगवान्‌के नामका स्मरण किया जाय तो सारे पाप मिट

जाते हैं, तब पश्चात्तापपूर्वक नाम लेनेसे ही पाप मिटते हैं—यह नियम कहाँ रहा। जब 'राम-राम' कहनेसे क्या होगा'—यह कहनेसे भी पाप मिटते हैं, तब पश्चात्तापपूर्वक नामोच्चारणसे पाप मिटते हैं, यह कल्पना झूठी है। परिहास और अनादरमें पश्चात्ताप, श्रद्धा-भक्ति नहीं होते। टेकके रूपमें अथवा किसी व्यक्ति-विशेषका निर्देश करते समय तो यह ज्ञान भी नहीं होता कि हम भगवान्‌का नाम ले रहे हैं। बार-बार 'सकृत्' शब्दका प्रयोग करके कहा जाता है कि प्रसङ्गवश उच्चारित नाम भी अघराशिका नाशक है। ऐसी स्थितिमें अधिकारीके सारे विशेषण उपेक्षित हैं और पापका नाश शास्त्रैकगम्य है।

आवृत्तिकी अपेक्षा नहीं है

एक बारके नामोच्चारणसे ही पापक्षय हो जाता है, आवृत्तिकी भी अपेक्षा नहीं। आइये, इस श्लोकके अन्तरङ्गमें प्रवेश कीजिये—

यद् द्व्यक्षरं नाम गिरेरितं नृणां
सकृत्प्रसङ्गादघमाशु हन्ति तत्।
पवित्रकीर्त्तिं तमलङ्घ्यशासनं
भवानहो द्वेष्टि शिवं शिवेतरः॥

(श्रीमद्भागवत ४। ४। १४)

सती अपने पिता दक्षकी निन्दा करती हुई कह रही हैं—भगवान् शिव परममङ्गलमय हैं। उनकी कीर्ति जीवकी अनर्थरूप भेदभावात्मक 'पवि' अर्थात् वज्रसे रक्षा करती है और उसे स्वमहिमामें प्रतिष्ठित करती है। ब्रह्मादि भी उनकी आज्ञाका उल्लङ्घन करनेमें समर्थ नहीं हैं। उनका कितना प्यारा, कितना सुगम, कितना सुखोच्चार्य दो अक्षरका नाम है—शिव! उसमें श्रद्धा आदिकी अपेक्षा नहीं, केवल उच्चारण भर कर लीजिये। अजी, वह भी अनेक बार नहीं, केवल एक बार। हृदयसे अर्थका अवधारण हो, न हो, जीभसे बोलभर दीजिये; बस, वह तत्काल अर्थात् अपूर्वकी उत्पत्ति किये बिना छोटे-बड़े सभी पापोंको नष्ट कर देता है। ऐसी बात मत सोचियेगा कि नामोच्चारण शिवजीकी समाधि भङ्गकर, उनके चित्तको अपनी ओर खींचकर, उनका अनुग्रह आपपर बरसाकर आपका कल्याण करेगा; नहीं-नहीं, यह सब कुछ नहीं, वह स्वयं ही पापक्षय कर देता है; वह भी मनुष्यमात्रका। उसमें जाति-पाँति आदिका भेद-भाव भी नहीं है। अवश्य ही ऐसे शिवसे द्वेष करनेवाला अभूतपूर्व अमङ्गल है, इसमें कोई संदेह नहीं।

इन वचनोंका दूसरा तात्पर्य बताना अर्थात् यह कहना कि ये वचन श्रद्धा आदिकी अपेक्षाके निषेधक नहीं हैं, साहसकी बात है; क्योंकि ऐसे वचन बार-बार आते हैं और सभी शास्त्रोंमें। देखिये अजामिलो-पाख्यान। इस अजामिलने कोटि-कोटि जन्मके पापोंका भी भोग अर्थात् प्रायश्चित्त कर लिया; क्योंकि भोग और प्रायश्चित्त—दोनोंके द्वारा समान रूपसे पापका नाश होता है, अतः भोग-वाचक 'निर्वेश' शब्दसे प्रायश्चित्त ही विवक्षित है। वह प्रायश्चित्त क्या है? विवश दशामें भगवान्‌के स्वस्त्ययन नामका उच्चारण। आप विवशतामें श्रद्धा-भक्ति ढूँढ़नेका प्रयास मत कीजिये। पापक्षय उच्चारणकर्तामें स्थित श्रद्धा-भक्तिका फल नहीं है, भगवन्नामका फल है। एक दूसरे श्लोकमें देखिये—

एतेनैव ह्यघोनोऽस्य कृतं स्यादघनिष्कृतम्।
यदा नारायणायेति जगाद चतुरक्षरम्॥

(श्रीमद्भागवत ६। ८। ८)

अजामिल हैं—पापी। पुत्रके लिये उच्चारित नाम नामाभास है, वहाँ श्रद्धाका प्रश्न ही नहीं उठता। जब उच्चारण किया, तभी पापक्षय हो गया। अर्थात् उसके द्वारा न तो आवृत्ति हुई और न फलके उत्पादनमें व्यवधान ही हुआ। केवल चार अक्षरों (अक्षरोंका समाहार) का उच्चारण ही पापक्षयमें कारण बना। पापनाशके लिये ये चारों अक्षर भी अधिक हैं। नामाभास भी समग्र पापक्षयका हेतु है। यह न तो 'आदित्यो

यूपः' के समान प्रमाणान्तरसे बाधित है और न 'अग्निर्हिमस्य भेषजम्' की तरह प्रत्यक्षादिसे सिद्ध है। यह भी ध्यान रखनेयोग्य है कि प्रमाणान्तरसे सिद्ध और भूतार्थवादरूप अर्थवाद भी स्वार्थमें प्रमाण ही होता है, जैसे हिमका औषध अग्नि और इन्द्रके हाथमें वज्र । अतः नाम-महिमाके सम्बन्धमें भिन्न-भिन्न शास्त्रोंमें सहस्र-सहस्र प्रमाण देख लीजिये ।

जैसे ब्रह्मवस्तु दुर्बोध होनेके कारण बारंबार समझायी जाती है और वहाँ न कोई अर्थ-भेद है और न कोई दोष, वैसे ही नामके प्रसङ्गमें भी नामोच्चारण-माहात्म्यके एक होनेपर भी बारंबार दुहराना कोई दोष नहीं है; क्योंकि नाम अत्यन्त सुगम है, इसलिये पापी जनकी श्रद्धा इसपर टिकना कठिन है । वे सोचने लगते हैं कि 'इतना बड़ा पाप इतने सुगम प्रायश्चित्तसे कैसे दूर होगा ?' अतः उनकी अश्रद्धा नामके तिरस्कारमें हेतु बनती है । वह एक और पाप है, उसीको दूर करनेके लिये अनेक युक्तियोंके द्वारा पुनः-पुनः बात समझायी जाती है और अनेक उदाहरण दिये जाते हैं, जैसे पाप कुहासा है तो नाम सूर्य; पाप ईंधन है तो नाम अग्नि; पाप रोग है तो नाम रोगनिवृत्ति-समर्थ महौषध अमृत ।

कुछ लोग कहते हैं कि 'सच है, नामके लिये पश्चात्ताप, श्रद्धा, भक्ति, आवृत्ति आदिकी कोई अपेक्षा नहीं है; परंतु यह सब म्रियमाण अधिकारीके लिये है । मरणासन्न व्यक्ति विवशतासे एक बार भी नामोच्चारण कर ले तो उसके अशेष पापोंका क्षय हो जाय ।' किंतु हमारा कहना यह है कि ऐसा कथन उन लोगोंका है, जो नामके प्रति श्रद्धालु तो हैं, परंतु जिनकी श्रद्धा पूरी नहीं, अधूरी है, मध्यम कोटिकी है । अब हम उनकी श्रद्धाका खण्डन न करके इस सम्बन्धमें जो पारमार्थिक पथ है, उसका निर्देश करेंगे ।

(क्रमशः)

भगवद्भजनके बिना जीवन व्यर्थ है ।

जा दिन मन पंछी उड़ि जैहै ।
ता दिन तेरे तन-तरुवर के सबै पात झरि जैहैं ॥
या देही कौ गरब न करियै, स्यार-काग-गिध खैहैं ।
तीननि मैं तन कृमि, कै बिष्ठा, कै ह्वै खाक उड़ैहै ॥
कहँ वह नीर, कहाँ वह सोभा, कहँ रँग-रूप दिखैहै ।
जिन लोगनि सौं नेह करत है, तेई देखि घिनैहैं ॥
घर के कहत सवारे काढ़ौ, भूत होइ धरि खैहैं ।
जिन पुत्रनिहि बहुत प्रतिपाल्यौ, देवी-देव मनैहैं ॥
तेई लै खोपरी बाँस दै, सीस फोरि बिखरैहैं ।
अजहूँ मूढ़ करौ सतसंगति, संतनि मैं कछु पैहै ॥
नर-बपु धारि नाहिं जन हरि कौ, जम की मार सो खैहै ।
सूरदास भगवंत-भजन बिनु बृथा सु जनम गँवैहै ॥

—सूरदास

गीताका भक्तियोग—१२

(स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराजद्वारा की गयी गीताके बारहवें अध्यायकी आनुपूर्वी विस्तृत व्याख्या)

[गताङ्क पृ० ९०४ से आगे]

सम्बन्ध

सिद्धभक्तके ५ लक्षणोंवाला चौथा प्रकरण—

श्लोक

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः॥

भावार्थ

भगवद्भक्तके अन्तःकरणमें किसी भी प्रिय और अप्रिय प्राणी, पदार्थ, घटना, परिस्थितिके संयोग-वियोगमें किंचित्-मात्र भी राग-द्वेष, हर्ष-शोक नहीं होते। रागरहित होनेसे अशुभ (पापमयी) क्रियाएँ होतीं नहीं—केवल शुभ (शास्त्रविहित, धर्मयुक्त, न्याययुक्त) क्रियाएँ ही होती हैं; परंतु ममता, आसक्ति, फलेच्छाका त्याग रहनेसे शुभकर्म होते हुए भी उनसे उसका सम्बन्ध नहीं रहता। जिनको अनुकूल-प्रतिकूल कहते हैं, उन्हीं-का वाचक यहाँ 'शुभाशुभ' शब्द है। अनुकूलता-प्रतिकूलतामें निर्विकार और निर्लिप्त रहनेसे भक्तको **'शुभाशुभ-परित्यागी'** कहा गया है। भगवान्‌का ऐसा प्रेमी भक्त भगवान्‌को अत्यधिक प्यारा होता है।

अन्वय

यः, न, हृष्यति, न, द्वेष्टि, न, शोचति, न, काङ्क्षति, यः, शुभाशुभपरित्यागी, सः, भक्तिमान्, मे, प्रियः॥ १७॥

यः न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति— जो न कभी हर्षित होता है, न द्वेष करता है, न शोच करता है, न कामना करता है।

चार ही मुख्य विकार हैं—१-राग, २-द्वेष, ३-हर्ष और ४-शोक*। सिद्ध भगवद्भक्तका भगवान्‌से कभी वियोग होता ही नहीं। जिसके साथ वियोग अवश्यम्भावी है, उस संसारसे वियोग तो होता ही रहता है, संसार सदा एकरस रहता नहीं। इन दोनों बातों-का प्रत्यक्ष अनुभव होनेपर न राग होता है न द्वेष, न हर्ष होता है न शोक।

परमात्मतत्त्वका साक्षात्कार होनेपर ये विकार सर्वथा मिट जाते हैं। साधनावस्थामें भी साधक ज्यों-ज्यों साधन करेगा, त्यों-ही-त्यों उसके ये विकार कम होते चले जायँगे। विकार कम होनेसे साधन और तेजीके साथ होगा। जब साधनावस्थामें भी विकारोंमें अन्तर पड़ता जाता है, तब यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि सिद्धावस्थामें ये विकार सर्वथा नहीं रहते।

राग-द्वेषके कारण ही परिणाममें वस्तु, व्यक्ति, पदार्थ, घटना, परिस्थिति आदिके संयोग-वियोगसे हर्ष-शोक होते हैं। अतः राग-द्वेष ही विकारोंके कारण हैं और इन्हींसे जीव संसारमें बँधता है (गीता ७। २७)। अतएव गीताजीमें स्थान-स्थानपर राग-द्वेषको त्यागनेके लिये कहा गया है—जैसे तीसरे अध्यायके ३४वें श्लोकमें **'तयोर्न वशमागच्छेत्'** पदोंसे राग-द्वेषके वशमें न होनेके लिये और अठारहवें अध्यायके ५१वें श्लोकमें **'रागद्वेषौ व्युदस्य च'** पदोंसे राग-द्वेषके त्यागके लिये कहा गया है।

राग-द्वेषसे ही परिणाममें हर्ष-शोक होते हैं। जिसके प्रति हमारा राग होता है, उसके संयोगसे और जिसके प्रति हमारा द्वेष है, उसके वियोगमें हर्ष होगा; इसके विपरीत जिसमें हमारा राग है, उसके अभावमें या अभावकी आशङ्कासे और जिसके प्रति हमारी द्वेषबुद्धि है, उसके संयोगमें दुःख होगा। 'दुःख'में शोकका अन्तर्भाव है। सिद्धभक्तमें राग-द्वेषका अत्यन्ताभाव होनेसे एक साम्यावस्था

---

* प्रचलित भाषामें किसीके मर जानेपर 'शोक' शब्दका प्रयोग किया जाता है; किंतु यहाँ 'शोक' शब्दसे तात्पर्य दुःखका है।

ही निरन्तर रहती है। इसलिये वह विकारोंसे सर्वथा रहित होता है।

उदाहरणके लिये रात्रिके समय अन्धकारमें दीपककी कामना होती है। दीपक सँजोनेसे हर्ष होता है तथा दीपक बुझानेवालेके प्रति क्रोध होता है। अँधेरा होनेसे दुःख-चिन्ता होती है। रात्रि होनेसे ये चारों बातें होती हैं, परंतु यदि मध्याह्नका सूर्य तपता हो तो 'कोई दीपक जला दे'—ऐसी इच्छा ही नहीं होती, दीपक सँजोनेसे हर्ष नहीं होता, दीपकबुझानेवालेके प्रति द्वेष अथवा क्रोध भी नहीं होता और अँधेरा तो है ही नहीं, इसलिये दुःख-चिन्ता भी नहीं होते।

इसी प्रकार परमात्मतत्त्वके विमुख होनेसे और संसारके सम्मुख होनेसे शरीर-निर्वाहके पदार्थ और अनुकूलता कैसे मिले, इसकी संसारी लोग इच्छा करते हैं, इनके मिलनेपर हर्षित होते हैं, इनकी प्राप्तिमें कोई बाधा पहुँचाता है तो उसके प्रति क्रोध और द्वेष करते हैं और न मिलनेपर दुःख-चिन्ता करते हैं। परंतु यदि मध्याह्नके सूर्यकी तरह जिसे भगवत्प्राप्ति हो जाय, उसमें ये विकार कैसे रहेंगे ? क्योंकि वह पूर्णकाम हो गया, कोई सांसारिक आवश्यकता उसे रही नहीं (गीता २।७०), इसलिये वह इन विकारोंसे सर्वथा रहित होता है।

दूसरे अध्यायके ५७वें श्लोकमें **'नाभिनन्दति न द्वेष्टि'** पद तथा पाँचवें अध्यायके २०वें श्लोकमें **'न प्रहृष्येत्, नोद्विजेत्'** पद, चौदहवें अध्यायके २२वें श्लोकमें **'न द्वेष्टि न काङ्क्षति'** पद तथा अठारहवें अध्यायके १०वें श्लोकमें **'न द्वेष्टि नानुषज्जते'** पद सिद्धभक्तमें राग-द्वेषका अभाव बतलानेके लिये प्रयुक्त हुए हैं।

पाँचवें अध्यायके ३रे श्लोकमें **'न द्वेष्टि न काङ्क्षति'** पद साधकका राग-द्वेष हटानेके लिये प्रयुक्त हुए हैं।

अठारहवें अध्यायके ५४वें श्लोकमें **'न शोचति न काङ्क्षति'** पद ब्रह्मभूत साधकका राग-द्वेष हटानेके लिये प्रयुक्त हुए हैं।

यः—जो।

शुभाशुभपरित्यागी—शुभ और अशुभ सम्पूर्ण कर्मोंके फलका त्यागी है।

भक्त शुभ कर्म करता है, किंतु कामना-आसक्ति-पूर्वक नहीं। फलकी कामना और आसक्ति न होनेसे उसके कर्म कर्म ही नहीं होते (गीता ४।२०)। इसलिये वह शुभ कर्मका त्यागी है। राग-द्वेषका सर्वथा अभाव होनेके कारण उससे अशुभ कर्म बनते ही नहीं; क्योंकि अशुभ कर्मके होनेमें कामना, आसक्ति ही प्रधान कारण है, जिसका भक्तमें अत्यन्ताभाव होता है। अतः अशुभ कर्मोंका उसके द्वारा स्वतः त्याग होनेसे वह अशुभका भी त्यागी कहा गया है।

'शुभ'-'अशुभ' शब्द अनुकूलता-प्रतिकूलताके भी बोधक हैं। पहले किये हुए शुभाशुभ कर्मोंके फल-स्वरूप वर्तमानमें जो अनुकूलता-प्रतिकूलता प्राप्त होती है, भक्तका उसमें राग-द्वेष न रहनेसे एवं उसके एक परमात्मामें ही तन्मय रहनेसे अनुकूलता-प्रतिकूलतासे वह सर्वथा ऊँचा उठा हुआ रहता है। इसलिये भी उसे **'शुभाशुभपरित्यागी'** कहा गया है।

'शुभ' और 'अशुभ' कुशल और अकुशल कर्मोंके भी बोधक हैं। कुशल कर्म मुक्ति देनेवाले और अकुशल कर्म बाँधनेवाले होते हैं। परंतु भक्त कुशल कर्मोंसे राग नहीं करता और अकुशलके प्रति द्वेष नहीं करता। उसके द्वारा कुशल कर्मोंका सम्पादन और अकुशल कर्मोंका त्याग शास्त्रके आज्ञानुसार होता है, राग-द्वेष-पूर्वक नहीं (गीता १८।१०)। राग-द्वेषको त्यागनेवाला ही सच्चा त्यागी है। मनुष्यको बाँधनेवाले कर्म नहीं होते। कर्मोंमें राग-द्वेष ही मनुष्यको बाँधते

हैं। भक्तके द्वारा राग-द्वेषरहित कर्म होते हैं, इसलिये वह शुभाशुभ सम्पूर्ण कर्मोंका परित्यागी कहा गया है।

भक्तके द्वारा होनेवाली क्रियाएँ भगवदर्पित होती हैं। उसमें अपने कर्तृत्वका अभिमान नहीं रहता। इसलिये वह कर्मोंसे सर्वथा अलिप्त रहता है। यहाँ 'शुभाशुभपरित्यागी' पदसे भक्तकी कर्मोंके साथ निर्लेपता-का बोध कराया गया है।

दूसरे अध्यायके ५०वें श्लोकमें 'सुकृतदुष्कृते' पद पाप-पुण्यके अर्थमें प्रयुक्त किया गया है; तथा ५७वें श्लोकमें 'शुभाशुभम्' पद अनुकूलता-प्रतिकूलताके लिये आया है; पाँचवें अध्यायके २०वें श्लोकमें 'प्रियम्, अप्रियम्' पद प्रिय-अप्रिय एवं अनुकूल-प्रतिकूल दोनोंके लिये आया है; नवें अध्यायके २८वें श्लोकमें 'शुभा-शुभफलैः' पद शुभ-अशुभ फलोंके लिये प्रयुक्त हुआ है; तेरहवें अध्यायके ९वें श्लोकमें 'इष्टानिष्ट' शब्द प्रिय-अप्रिय, अनुकूल-प्रतिकूल दोनोंके लिये हैं तथा चौदहवें अध्यायके २४वें श्लोकमें 'प्रियाप्रिय' शब्द प्रिय-अप्रिय और अनुकूल-प्रतिकूल दोनोंके लिये प्रयुक्त हुए हैं; अठारहवें अध्यायके १०वें श्लोकमें 'अकुशलम्' एवं 'कुशले' पद बाँधनेवाले और मुक्ति देनेवाले कर्मोंके लिये प्रयुक्त हुए हैं और १२वें श्लोकमें 'इष्टम् अनिष्टम् फलम्' पद पाप-पुण्यरूप फलके लिये प्रयुक्त हुए हैं।

सः—वह।

भक्तिमान्—(भक्तियुक्त पुरुष)। भक्तकी भगवान्में अत्यधिक प्रियता रहती है, उसके द्वारा स्वाभाविक ही भगवान्का चिन्तन-स्मरण एवं भजन होता रहता है, वह सबको भगवत्स्वरूप समझकर सबकी सेवा करता है। ऐसे लक्षणोंवाला भक्त 'भक्तिमान्' है।

इसी अध्यायके १९वें श्लोकमें 'भक्तिमान्' पद इसी भावमें प्रयुक्त हुआ है।

मे प्रियः—(मेरा प्यारा है)। भक्त भक्ति अर्थात् प्रेमसे भगवान्को भजता है, इसलिये वह भगवान्का प्यारा होता है।

जीव-जीवनरूपा सरिताको पार करनेके लिये प्रेरणा

सर्वतःस्रोतसं घोरां नदीं लोकप्रवाहिणीम्। पञ्चेन्द्रियग्राहवतीं मनःसंकल्परोधसम्॥
लोभमोहतृणच्छन्नां कामक्रोधसरीसृपाम्। सत्यतीर्थानृतक्षोभां क्रोधपङ्कां सरिद्वराम्॥
अव्यक्तप्रभवां शीघ्रां दुस्तरामकृतात्मभिः। प्रतरस्व नदीं बुद्ध्या कामग्राहसमाकुलाम्॥
संसारसागरगमां योनिपातालदुस्तराम्। आत्मकर्मोद्भवां तात जिह्वावर्तां दुरासदाम्॥

(महाभारत, शान्ति० २५० । १२—१५)

यह जीव-जीवन एक भयंकर नदी है, जो सम्पूर्ण लोकमें प्रवाहित हो रही है। इसके स्रोत सम्पूर्ण दिशाओंकी ओर बहते हैं। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ इसके भीतर पाँच ग्राहोंके समान हैं। मनके संकल्प ही इसके किनारे हैं। लोभ और मोहरूपी घास और सेवारसे यह ढकी हुई है। काम और क्रोध इसमें सर्पके समान निवास करते हैं। सत्य इसका घाट है। मिथ्या इसकी हलचल है। क्रोध ही कीचड़ है। यह नदी दूसरी नदियोंसे श्रेष्ठ है। यह अव्यक्त प्रकृतिरूपी पर्वतसे प्रकट हुई है। इसके जलका वेग बड़ा प्रखर है। अजितात्मा पुरुषोंके लिये इसे पार करना अत्यन्त कठिन है। इसमें कामरूप ग्राह सब ओर भरे हैं। यह नदी जन्म-मृत्युरूप सागरमें मिली है। वासनारूपी गहरे गड्ढोंके कारण इसे पार करना अत्यन्त कठिन है। यह अपने कर्मोंसे ही उत्पन्न हुई है। जिह्वा भँवर है तथा इस नदीको लाँघना दुष्कर है। तुम अपनी विशुद्ध बुद्धिके द्वारा इस नदीको पार कर जाओ।

आस्तिकताकी आधार-शिलाएँ

जब भगवान्‌का आह्वान होता है, तभी भजनकी ओर प्रवृत्ति होती है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—

समाश्रिता ये पदपल्लवप्लवं
महत्पदं पुण्ययशोमुरारेः।
भवाम्बुधिर्वत्सपदं परं पदं
पदं पदं यद् विपदां न तेषाम्॥
(श्रीमद्भा० १०।१४।५८)

'जिन्होंने पुण्यकीर्ति भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके चरण-कमलरूप नौकाकी, जो महापुरुषोंका आश्रयरूप है, शरण ली है, उनके लिये यह संसार-समुद्र बछड़ेके खुरके समान हो जाता है और उन्हें परमपदकी प्राप्ति हो जाती है। जो विपत्तियोंका पद है; उस संसारमें उन्हें कभी नहीं आना पड़ता।'

आप कहेंगे, 'हमलोग तो समाश्रित नहीं हैं।' बिल्कुल ठीक है। किंतु एक बात ध्यानमें रखियेगा। यदि आपके जीवनमें 'समाश्रित' होना नहीं होता तो आप भजनकी ओर लगते ही नहीं। जब भगवान्‌का आह्वान होता है, तभी भजनकी ओर प्रवृत्ति होती है। उनका यह आह्वान पूर्ण होता है। एक समय ऐसा आयेगा, जब वे आपको 'समाश्रित' कर लेंगे। यह केवल किताबी बात नहीं, ध्रुव सत्य है।

बस, भगवान्‌का नाम लेते जाइये।

हम सब श्रीभगवान्‌की असीम दयामें अवगाहन कर रहे हैं, किंतु लीलामयकी यह एक लीला ही है कि सबको एक साथ अपनी अहैतुकी दयाका परिचय नहीं देते। उनकी दयासे कोई प्राणी वञ्चित नहीं है। समय एवं सुविधाके अनुसार यदि आप भी चेष्टा करेंगे, अर्थात् और कुछ भी न बने, उनका नाम ले-लेकर उन्हें पुकारते रहेंगे, तो आपको भी उस दयाका परिचय अवश्य मिल जायगा—यह मेरा विश्वास है। भगवान्‌का स्वभाव बड़ा विलक्षण है। जिसे वे एक बार अपनी ओर खींच लेते हैं, उसका कभी परित्याग नहीं करते। बस, भगवान्‌का नाम लेते जाइये। यह मेरी एकमात्र प्रार्थना है।

घबरानेकी कोई आवश्यकता नहीं है।

जिस दिन भगवान्‌पर पूर्ण विश्वास हो जाता है, उस दिन कोई कर्तव्य शेष नहीं रह जाता। हमलोगोंके अंदर विश्वासकी कमी है। इसीलिये मनमें तरह-तरहकी बातें उठा करती हैं। अवश्य ही घबरानेकी कोई आवश्यकता नहीं है। जिन्होंने अपनी अहैतुकी दयासे आपको इस ओर प्रवृत्त किया है, वे ही आगे भी बढ़ाते जायँगे। विश्वास रखिये—भगवान् अपने नाममात्रके भक्तपर भी प्रेमकी अनन्त धारा किसी-न-किसी दिन बरसा ही देते हैं। बाट देखते रहिये। आपके जीवनमें भी ऐसी ही बात होगी; क्योंकि आपने भगवान्‌की शरण ली है, फिर चाहे अपूर्णभावसे ही शरण ली हो। उनकी शरणागतवत्सलता कितनी दिव्य है, इस बातकी हमलोग कल्पना भी नहीं कर सकते। वह जागतिक मनकी कल्पनाके अतीत है। बस, उनकी कृपासे ही उस शरणागतवत्सलताका दर्शन कर निहाल होनेकी आशामें जीवन काटते जाइये।

शरण ले लेनेके पश्चात् किसी प्रकारकी चिन्ता नहीं रहनी चाहिये।

सर्वेश्वर एवं दयामयकी शरण ले लेनेके पश्चात् किसी प्रकारकी चिन्ता नहीं रहनी चाहिये। मनुष्यकी यह एक भूल होती है कि वह अपनेको भगवान्‌का शरणागत समझता है तथा साथ-ही-साथ 'भविष्यमें मेरा क्या होगा'—इस प्रकारकी चिन्ता भी करता है। सच्ची बात यह है कि यदि मनुष्य शक्तिभर भगवान्‌को

समर्पण करनेकी तैयारी कर लेता है तो उसके लिये कोई कर्तव्य नहीं बच जाता। अतः भविष्यकी चिन्ता मनमें न आने पाये। बल्कि यह चिन्ता हो कि अपनी ओरसे तैयारीमें त्रुटि तो नहीं रह गयी है।

भगवत्कृपाका पात्र कौन है—इसका पता नहीं लग सकता।

भगवान् जिस तरह रखें, उसी तरह रहनेमें पूर्ण संतोष रखना चाहिये। इस प्रापञ्चिक जगत्के हेर-फेरसे इस बातका पता नहीं लग सकता कि भगवत्कृपाका पात्र कौन है। कोढ़ी, सबसे अपमानित, सबकी नजरोंसे गिरा हुआ, लोगोंकी दृष्टिमें 'पापी' नामसे प्रसिद्ध, सबकी घृणाका पात्र, भूख-प्याससे कराहता हुआ भी भगवत्-कृपाका पात्र हो सकता है, फिर उसे कोई जाने चाहे नहीं। भगवत्कृपाको प्राप्त करनेवाले संत लाल कपड़ेमें ही हों, यह बात नहीं है। उजले कपड़ेमें छिपे हुए आज भी कितने संत भारतकी भूमिको पवित्र कर रहे हैं, जिसका हमें पता नहीं। बस, पूर्ण समर्पणकी अपनी ओरसे तैयारी करते रहें।

निर्भय होकर आगे बढ़ते जाइये।

पारिवारिक झंझटोंसे मन कभी-कभी खिन्न हो जाता है ठीक है, अभी ऐसा हो सकता है; किंतु आप बिल्कुल घबरायें नहीं। भगवान्की जिस कृपासे आपमें भगवान्को प्राप्त करनेकी इच्छा जाग्रत् हुई है, उस कृपासे ही एक दिन 'वासुदेवः सर्वमिति'के रूपमें जगत् दीख सकता है। उस दिन यह झंझट नहीं रहेगा, आनन्दका स्रोत बह जायगा। निर्भय होकर आगे बढ़ते जाइये, भगवान् आपके पीछे हैं।

दुःखसे भरी हुई परिस्थितियोंका स्वागत कीजिये।

घबराइये मत। जो हो रहा है, मङ्गलके लिये हो रहा है। एक बार भी अपनेको प्रभुके ऊपर छोड़ देनेपर भगवान् फिर उसे नहीं छोड़ते। चैतन्य महाप्रभुने कहा है—'सेवक तो ऐसा हो कि मालिकको छोड़े नहीं और मालिक ऐसा हो कि सेवकके छोड़ देनेपर उसकी शिखा पकड़कर उसे ले आये।' आजकलके सेवक भगवान्को बारंबार पकड़ते और छोड़ते हैं, पर भगवान्का कायदा वही है। वे अपनी प्रतिज्ञासे तनिक भी नहीं हटते—'न मे भक्तः प्रणश्यति'। खूब आनन्दसे जीवन बिताइये। दुःखसे भरी हुई परिस्थितियोंको भगवान्का विशेष पुरस्कार समझकर उनका स्वागत कीजिये।

विपत्तिके अवसरपर भी भगवान्का सहारा मत छोड़िये।

प्रारब्धका फल होकर ही रहेगा, टाला नहीं जा सकता। भगवान्की बात दूसरी है; वे सर्वसमर्थ हैं, चाहे सो कर सकते हैं। किंतु नश्वर शरीरके लिये भगवान्को कहना अल्पज्ञता है। दुःखके समय मनुष्य प्रायः चञ्चल हो जाया करता है, उस समय वह भक्तिके सुन्दर भावोंको पल्लवित करनेमें कठिनताका अनुभव करता है। परंतु बुद्धिमानी इसीमें है कि कठिन विपत्तिके अवसरपर भी भगवान्का सहारा छोड़कर मनुष्य किसी दूसरी ओर न दौड़े-मुड़े। भगवान्के सिवा मनुष्य यदि किसी भी दूसरेकी शरण लेता है तो समझना चाहिये कि भगवान्पर उसकी श्रद्धा नहीं है।

कृपाका आश्रय करके आगे बढ़ चलें।

वास्तवमें आवश्यकता है—शास्त्रपर, महापुरुषोंके वचनोंपर श्रद्धा करनेकी। फिर कोई कार्य शेष रहता नहीं; साधन तो अपने-आप होने लग जाता है। × × × सारी त्रुटि भगवान्की कृपासे ही दूर हो सकती है। उनकी कृपा भी सबपर है। केवल उस कृपाका ही आश्रय करके हम आगे बढ़ चलें, अन्धकार अवश्य ही दूर होगा।

गुणार्णव श्रीराम

(लेखक—जगद्गुरु रामानुजाचार्य श्रीपुरुषोत्तमाचार्य रङ्गाचार्य महाराज)

[अप्रैल पृष्ठ ८५७ से आगे]

अतिमानुषगुण

ऊपर सत्पुरुषोंके असाधारण गुणोंका वर्णन किया गया। अब श्रीराममें विद्यमान अतिमानुष (दिव्य) गुणोंका वर्णन किया जाता है—

१–नित्यं प्रशान्तात्मा—'नित्यं प्रशान्तात्मा' का अर्थ है—'अक्रोधनस्वभावः।' अर्थात् श्रीराम सदा अक्रोधन-स्वभाव हैं। कदापि उनके स्वभावमें चिड़चिड़ापन नहीं आता। इतना ही नहीं,

२–उच्यमानोऽपि परुषं नोत्तरं प्रतिपद्यते। (वा० रा० २। १। १०)—वे परुष (क्रूर) वचनोंके कहे जानेपर भी उत्तर नहीं देते। वे उत्तर नहीं देते—इतना ही नहीं, अपितु जो परुष वचन श्रीरामसे कहता है, उससे भी वे मृदुभाषण करते हैं। यह गुण श्रीराममें असाधारण है। अतः यह उनका अतिमानुषगुण है।

३—कथंचिदुपकारेण कृतेनैकेन तुष्यति। (वही, २। १। ११) किसी भी प्रकार किये गये एक भी उपकारसे श्रीराम प्रसन्न हो जाते हैं। इनकी यह प्रसन्नता कभी नष्ट नहीं होती। इतना ही नहीं—

४—न स्मरत्यपकाराणां शतमप्यात्मवत्तया— (वही, २। १। ११) अर्थात् श्रीराम असंख्य अपराधोंका भी स्मरण नहीं करते। इसका कारण यह है कि श्रीराम आत्मवान् हैं—महापुरुष हैं। उपकारका स्मरण और अपकारका अस्मरण—यह महापुरुषोंका असाधारण लक्षण है। यह गुण उनका अतिमानुषगुण है।

५—बुद्धिमान्—श्रीराम प्रशस्तबुद्धिरूप गुणसे सम्पन्न हैं। प्राणिमात्र सुखसे कैसे रहें, यह चिन्ता ही 'प्रशस्तबुद्धि' है। यह भी अतिमानुषगुण है।

६—मधुराभाषी—'मधुराभाषी' का अर्थ करते हुए गोविन्दराज कहते हैं—'श्रीराम मधुर-भाषणशील हैं। अर्थात् जो भी कुछ वे बोलते हैं, मधुर ही बोलते हैं। इतना ही नहीं, अपितु पूर्वभाषी और प्रियंवद भी हैं। दूसरा कोई उनसे बोले—इस बातकी प्रतीक्षा न करते हुए वे सबसे पहले बोलते हैं और शत्रुसे भी प्रिय भाषण करते हैं। यह भी उनका अतिमानुषगुण है।

७–वीर्यवान्—'वीर्य' गुणसे युक्त होनेके कारण श्रीराम 'वीर्यवान्' हैं। 'वीर्यवान्'का अर्थ है—अपने भक्तोंके सभी विरोधियोंको नष्ट करनेवाला। इतना ही नहीं, उनके विरोधियोंका निरसन करनेपर भी उन्हें ऐसा अनुभव कभी नहीं होता कि अपने भक्तोंके लिये उन्होंने कुछ किया है। इस प्रकारका वीर्य अलौकिक है। अतः उनका यह गुण भी अतिमानुष है।

८–न चानृतकथो विद्वान् वृद्धानां प्रतिपूजकः— (वही, २। १। १४) श्रीराम अनृतकथा—कल्पित कथाओंसे दूर रहते हैं और स्वयं विद्वान् होते हुए भी वृद्धोंके प्रतिपूजक हैं। वृद्ध तीन प्रकारके होते हैं—ज्ञानवृद्ध, शीलवृद्ध और वयोवृद्ध। उनका सम्मान करना अपने गुणोंको बढ़ाना है।

९—सानुक्रोशः—श्रीराम अनुक्रोश (दया) गुणसे सम्पन्न हैं, अतः 'सानुक्रोश' (दयालु) हैं। दूसरेके दुःखको सहन न करना दया है।

१०—जितक्रोधः—श्रीरामने क्रोधको जीत रखा है। अर्थात् क्रोध रामके वशमें है, क्रोधके वशमें राम नहीं हैं।

११–दीनानुकम्पी—श्रीराम दीनोंपर विशेष अनुकम्पा (दया) करते हैं। अतः दीनानुकम्पारूप गुणसे सम्पन्न होनेके कारण वे 'दीनानुकम्पी' हैं। दीनोंपर अनुकम्पा करनेमें श्रीरामकी विशेषता यह है कि जहाँ भी श्रीराम दीनोंको देखते हैं, वहीं खड़े रहकर उनका अभय-दानके द्वारा सम्मान करते हैं।

१२—नित्यंप्रग्रहवान्—गोविन्दराजके अनुसार 'नित्यं प्रग्रहवान्' का अर्थ 'नियमवान्' होता है। श्रीराम अपने 'सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते। अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम॥*'—इस नियमका पालन करते हैं।

---

* जो एक बार भी मेरे शरण होकर मुझे यह कहता है कि मैं आपका हूँ और मुझसे त्राण चाहता है, उसे मैं सभी प्राणियोंसे निर्भय कर देता हूँ।

तिलक और महेश्वरके मतमें—'प्रग्रहवान्' का अर्थ दुष्टोंको दण्ड देनेवाला है। शिरोमणिके मतमें 'प्रग्रहवान्' का अर्थ इन्द्रियोंका निग्रह करनेवाला है। ये सब अर्थ श्रीराममें घटते हैं। अतः वे 'प्रग्रहवान्' हैं।

१३—**शुचिः**—'शुचिः'का अर्थ परस्वका अनाकाङ्क्षी है। दूसरेके भागकी इच्छा न रखनेवाला ही 'शुचि' (पवित्र) है। अतः जिनका भाग हो, उनको धनका भाग देनेके बाद बचा हुआ धन ही पवित्र है। अतः 'योऽर्थे शुचिः स हि शुचिः''न मृद्वारिशुचिः शुचिः।'—अर्थ (धन) की दृष्टिसे पवित्र मनुष्य ही वस्तुतः पवित्र है, केवल मिट्टी-जलसे शुद्ध हुआ पवित्र नहीं होता।

१४—**कुलोचितमिति क्षात्रं स्वधर्मं बहुमन्यते।** (वही, २ । १ । १६) धर्म दो प्रकारके हैं—एक सामान्य धर्म, दूसरा विशेष धर्म। इनमें सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं अहिंसा आदि सामान्य धर्म हैं। मनुष्यमात्रके लिये समान होनेसे इनको 'सामान्य धर्म' कहते हैं। ज्ञानप्रसार आदि ब्राह्म धर्म, दुष्टनिग्रह और शिष्टरक्षण आदि क्षात्र-धर्म, व्यापार आदि वैश्यधर्म एवं सेवा आदि शूद्रधर्म—ये विशेष धर्म हैं। श्रीराम सामान्य धर्मोंका पालन करते हुए ही अपने कुलोचित क्षात्र-धर्मका बहुत श्रद्धापूर्वक पालन करते हैं; कारण कि वह सुख देनेवाला है। सामान्य-धर्मकी आड़में विशेषधर्मका अनादर विश्वमें भयावह है।

१५—**नाश्रेयसि रतः**—श्रीराम अकल्याणकारी कार्योंमें रुचि नहीं रखते।

१६—**न विरुद्धकथारुचिः**—श्रीराम धर्म, नीति एवं मर्यादा आदिसे विरुद्ध कथाओंमें रुचि नहीं रखते।

१७—**अरोगः**—वे अरोग हैं—आधि और व्याधिसे मुक्त हैं।

१८—**तरुणः**—रोगी न होनेके साथ-साथ उनमें 'तारुण्य'का परिपूर्ण विकास है, अतः वे तरुण हैं।

१९—**वपुष्मान्**—'अरोग' होनेके साथ-साथ उनका शरीर भी प्रशस्त (सुन्दर) है। अतः वे 'वपुष्मान्' हैं।

२०—**देशकालवित्**—किस देशमें किस कालमें क्या कर्तव्य है, इसे वे जानते हैं। अतः 'देशकालवित्' हैं।

२१—**लोके पुरुषसारज्ञः**—वे लोकमें विद्यमान पुरुषोंके हृदयोंके जानकार हैं, अतः उनको 'लोके पुरुषसारज्ञः' कहते हैं। एक बार दर्शनमात्रसे वे पुरुषोंके हृदयके सारको जान लेते हैं।

२२—**विद्याव्रतस्नातः**—अनेक प्रकारके विद्या-प्रस्थानोंमें और उनके ग्रहणके समय शास्त्रोंमें प्रतिपादित नियमोंके पालनमें श्रीराम स्नात (निपुण) हैं।

तीन प्रकारके स्नातक होते हैं—'विद्यास्नात, व्रतस्नात एवं विद्याव्रतस्नात। इनमें श्रीराम विद्याव्रतस्नात हैं। शास्त्रोंमें विद्या और व्रतोंमें पारंगतको 'स्नातक' कहते हैं।

२३—**कल्याणाभिजनः**—श्रीरामके मातृवंश और पितृवंश दोनों परिशुद्ध हैं।

२४—**साधुः**—श्रीराम साधु अर्थात् निर्दोष हैं।

२५—**अदीनः**—क्षोभके कारण होनेपर भी जिनका मन क्षुब्ध नहीं होता, वे 'अदीन' हैं।

२६—**सत्यवाक्**—श्रीराम कभी असत्य नहीं बोलते।

२७—**ऋजुः**—श्रीराम 'ऋजु' अर्थात् सुखसे आराध्य हैं।

२८—**वृद्धैरभिविनीतश्च द्विजैर्धर्मार्थदर्शिभिः।** (वही, २ । १ । २१)—श्रीराम धर्मशास्त्र एवं अर्थशास्त्रमें निपुण ब्राह्मणोंद्वारा सुशिक्षित हैं।

२९—**धर्मकामार्थतत्त्वज्ञः**—श्रीराम धर्म, काम और अर्थ—इन तीनों पुरुषार्थोंके तत्त्वको जानते हैं; अर्थात् समयका विभाग करके इनका सेवन करते हैं। इस विषयमें धर्मशास्त्रका आदेश है—

न पूर्वाह्णमध्याह्नापराह्णान् अफलान् कुर्यात्।

अर्थात् 'पूर्वाह्ण, मध्याह्न और अपराह्ण—दिनके तीन कालोंको व्यर्थ न गँवाये। पूर्वाह्णकालमें धर्मका सेवन करे, मध्याह्नकालमें अर्थका उपार्जन करे और अपराह्णकालमें कामका सेवन (मनोरञ्जन) करे।

३०—**लौकिके समयाचारे कृतकल्पो विशारदः**—(वही २ । १ । २२)—श्रीराम लोकव्यवहारमें निपुण हैं।

३१—**निभृतः**—श्रीराम विनीत हैं।

३२—**संवृताकारः**—वे गम्भीर हैं।

३३—**गुप्तमन्त्रः**—अर्थात् कार्योंकी मन्त्रणाको गुप्त रखते हैं।

३४–सहायवान्—सहायकोंसे सम्पन्न हैं।

३५–त्यागसंयमकालवित्—वे त्याग और संयमके कालके ज्ञाता हैं, अर्थात् वस्तुओंके संग्रह और उनके त्यागके समयको यथार्थरूपमें जानते हैं।

३६—दृढभक्तिः—श्रीराम माता-पिता और आचार्य आदिमें दृढभक्ति रखते हैं।

३७–नासद्ग्राही—अर्थात् असज्जनोंके संग्रहसे रहित हैं।

३८–न दुर्वचाः—वे दुष्ट वचनों (गाली) का प्रयोग कभी नहीं करते।

३९–निस्तन्द्रिः—सर्वदा आलस्य-रहित और कर्तव्य-शील हैं।

४०–अप्रमत्तः—प्रमादरहित हैं। शक्ति होनेपर भी अवश्य-कर्तव्य कामको न करना प्रमाद है। इस प्रकारके प्रमादसे श्रीराम सर्वथा रहित हैं।

४१–स्वदोषपरदोषवित्—श्रीराम स्वदोष और परदोष—दोनोंके ज्ञाता हैं। इनमें स्वदोषोंका ज्ञान उनको निकालनेके लिये आवश्यक है। दूसरेके दोषोंका ज्ञान भी, वे दोष अपनेमें न आ जायँ, इसलिये आवश्यक है।

४२–शास्त्रज्ञः—अर्थात् सब विद्या-प्रस्थानोंके ज्ञाता हैं।

४३–कृतज्ञः—दूसरोंने उनका जो उपकार किया है, उसे वे जानते हैं। उसका विस्मरण श्रीराम कदापि नहीं करते।

४४–पुरुषान्तरकोविदः—अर्थात् पुरुषोंके देखने-मात्रसे वह साधु है,यह असाधु है—इस प्रकार उन-उन पुरुषोंके भीतरी स्वरूपोंको जान लेते हैं। ये सब अतिमानुषगुण हैं।

४५–यः प्रग्रहानुग्रहयोर्यथान्यायं विचक्षणः—(वही, २। १। २५)—श्रीराम प्रग्रह (पकड़ना) और अनुग्रह (छोड़ना)—इन दोनोंमें यथान्यायविचक्षण हैं। अर्थात् न्याय एवं नीतिके नियमोंके आधारपर दण्ड्योंको दण्ड देते और अदण्ड्यको छोड़ देते हैं, कदापि न्याय-विरुद्ध आदेश नहीं देते।

'मुनिभावप्रकाशिका' नामक श्रीरामायणकी टीकामें प्रग्रहका अर्थ शरणागतका स्वीकार एवं अनुग्रहका अर्थ स्वीकृतका पालन किया गया है।

गोविन्दराजने 'प्रग्रह' का अर्थ—मित्र आदिकी स्वीकृति और 'अनुग्रह'का अर्थ उनका पालन किया है। अर्थात् श्रीराम मित्रोंके संग्रह और पालन आदिमें निपुण हैं।

४६–सत्संग्रहानुग्रहणे स्थानविन्निग्रहस्य च। (वही, २। १। २६)—श्रीराम सज्जनोंके संग्रह और अनुग्रह (पालन) में भी विचक्षण हैं। असत् मनुष्योंका दण्ड देनेके स्थान (अवसर) के भी वेत्ता हैं।

महेश्वरतीर्थने 'सत्संग्रहानुग्रह' का अर्थ इस प्रकार किया है—सत्संग्रहः सदाचारः तस्य प्रग्रहणे अनुष्ठाने विचक्षणः। अर्थात् श्रीराम सदाचारके अनुष्ठानमें निपुण हैं।

'रामायण-शिरोमणि' टीकाकारने 'सत्संग्रहप्रग्रहणे' का अर्थ इस प्रकार किया है—सतां महात्मनां स्वीकारः सत्संग्रहः अनुग्रहणं सत्सेवनम्। अर्थात् महात्माओंका स्वीकार एवं उनका सेवन इन दोनोंमें श्रीराम निपुण हैं।

४७–आयकर्मण्युपायज्ञः संदृष्टव्ययकर्मवित्—अर्थात् श्रीराम न्यायप्राप्त धनार्जन-कर्मके उपयोगी उपायोंके ज्ञाता हैं तथा शास्त्रदृष्ट व्ययस्थानोंके भी ज्ञाता हैं। अथवा आयकी अपेक्षा व्यय कितना करना आवश्यक है, इसके ज्ञाता श्रीराम हैं। इस विषयमें नीतिशास्त्रका आग्रह है—

> कच्चिदायस्य चार्धेन चतुर्भागेन वा पुनः।
> पादभागैस्त्रिभिर्वापि व्ययः संशोध्यते बुधैः॥

अर्थात् आयसे आधा भाग, चौथा भाग अथवा तीसरा भाग व्यय करनेकी आज्ञा बुधलोग देते हैं।

४८–श्रैष्ठ्यं चास्त्रसमूहेषु प्राप्तो व्यामिश्रकेषु च। (वही, २। १। २७) श्रीराम अस्त्रसमूहोंके ज्ञानमें श्रेष्ठताको प्राप्त हैं। इसी प्रकार शस्त्रों और अस्त्रोंका मिलावटसे प्रयोग करनेमें भी निपुण हैं।

४९–अर्थधर्मौ च संगृह्य सुखतन्त्रो न चालसः—श्रीराम अर्थ (धन) एवं धर्मके अविरुद्ध सुख (मनोरञ्जन) का सेवन करते हैं। जो मनोरञ्जन-कार्य धर्म और अर्थके विरुद्ध हों, उनका सेवन नहीं करते। 'न चालसः'—श्रीराम आलस्यगुणसे रहित हैं।

५०–वैहारिकाणां शिल्पानां विज्ञाता—श्रीराम विहार (मनोरञ्जन) ही जिसका फल है, ऐसे

शिल्पोंके अर्थात् गीत, वाद्य और चित्रकर्म आदि कलाओंके ज्ञाता हैं। महाभारत, सभापर्वमें उपलब्ध 'यन्त्रसूत्रं च नागरम्' के आधारपर इसका अर्थ 'विहार ही जिनका फल है, ऐसे यन्त्रोंके श्रीराम ज्ञाता हैं' यह किया गया है।

इस प्रकार श्रीरामके अनेक कल्याण-गुणोंका निर्देश ऊपर किया गया है। अब हेय (दुर्गुण) गुण श्रीराममें नहीं है—इसका प्रतिपादन किया जाता है।

५१–हेयगुणोंका अभाव—श्रीराममें हेय (नीच कोटिके) गुण नहीं हैं, दुर्गुण तो नामको भी नहीं हैं—इसका प्रतिपादन भगवान् वाल्मीकिने निम्नलिखित श्लोकमें किया है—

अनसूयो जितक्रोधो न दृप्तो न च मत्सरी।
न चावमन्ता भूतानां न च कालवशानुगः॥
(वही, २।१।३०)

श्रीराममें असूया, (परदोषदर्शन) क्रोध, दर्प, मत्सर (डाह), दूसरोंके तिरस्कारकी भावना और कालके वशमें होना—ये दुर्गुण नहीं हैं। इन सबकी व्याख्या पहले की जा चुकी है।

श्रीरामके कुछ और असाधारण दिव्य गुण

अब श्रीरामके अन्य असाधारण या अतिमानुष दिव्य गुणोंका वर्णन किया जाता है—

व्यसनेषु मनुष्याणां भृशं भवति दुःखितः।
उत्सवेषु च सर्वेषु पितेव परितुष्यति॥
(वही, २।२।४२)

अर्थात् मनुष्योंकी आपत्तिमें श्रीराम बहुत दुःखी होते हैं तथा उनके उत्सव-प्रसङ्गोंमें पिताके सदृश प्रसन्न होते हैं।

५२–बहुश्रुत वृद्धोंकी उपासना—मनुष्यके ज्ञान और गुणोंकी वृद्धि सत्सङ्गसे होती है। श्रीरामके विषयमें वाल्मीकि मुनि कहते हैं—

शीलवृद्धैर्ज्ञानवृद्धैर्वयोवृद्धैश्च सज्जनैः।
कथयन्नास्त वै नित्यमस्त्रयोग्यान्तरेष्वपि॥
(वही, २।१।१२)

अर्थात् श्रीराम अस्त्राभ्यासकालकी छुट्टीमें भी शीलवृद्धः ज्ञानवृद्ध और वयोवृद्ध सज्जनोंका सत्सङ्ग किया करते थे, जो सत्सङ्ग, ज्ञान और गुणोंका वर्धक है।

तीन प्रकारके वृद्धोंमें 'शीलवृद्ध' उनको कहते हैं, जो सदाचारके पालनमें आगे बढ़े हुए हैं। 'ज्ञानवृद्ध' वे हैं, जो ज्ञानके अर्जनमें उन्नति कर चुके हैं। 'वय' नाम अवस्थाका है। अवस्थाकी दृष्टिसे वृद्धोंको 'वयोवृद्ध' कहते हैं। श्रीरामके अतिमानुषगुणोंका संकलन भगवान् श्रीरामानुजाचार्यके शिष्य श्रीकुरेश स्वामीने अपने 'अतिमानुषस्तवमें' किया है। उसमें वर्णित श्रीरामके अतिमानुषगुण आगे कहे जाते हैं। उनके मतमें 'जटायु'को मोक्ष देना तथा सुग्रीवके कहनेपर सात तालवृक्षोंके साथ पर्वत और पृथ्वीका भी भेदन आदि श्रीरामके अतिमानुषगुण हैं। समुद्रपर सेतु-बन्धन भी उनका अतिमानुषगुण है। विभीषणको शरण और लङ्कैश्वर्य देना भी अतिमानुषगुण है। दक्षिण समुद्रके तटसे पश्चिमोत्तर समुद्रतटके निवासी दैत्योंको एक बाणसे नष्ट कर देना भी अतिमानुषगुण है। युद्धमें निस्सहाय और निरायुध रावणको 'विश्रम्यताम्' (कुछ देर विश्राम कर लो) कहना भी अतिमानुषगुण है। श्रीलक्ष्मणजीका शक्तिसे आहत होनेपर राक्षसोंके लिये भारी तथा श्री-हनुमान्‌जीके लिये लघु (हलका) हो जाना उनका अतिमानुषगुण है। श्रीरामके श्रीचरणोंके स्पर्शसे शिलाका स्त्री (अहल्या) रूपमें परिणत हो जाना श्रीरामका अतिमानुष गुण है। तृणका ब्रह्मास्त्ररूपमें परिणत हो जाना अतिमानुषगुण है। पादुकासे त्रिभुवनकी रक्षा करना अतिमानुषगुण है। अपराधी जयन्तपर भी कृपा करना अतिमानुषगुण है। भक्तोंके परतन्त्र होना उनका अतिमानुषगुण है। वदान्यता भी अतिमानुष-गुण है। जो प्रिय बोलता हो और दान भी देता हो, वह 'वदान्य' है। सौशील्य, वात्सल्य, क्षमा, शत्रुओंपर भी प्रेम, मार्दव, दया, माधुर्य, स्थिरता (स्थिरचित्तता), समता, कृतित्व और कृतज्ञता आदि श्रीरामके अतिमानुषगुण हैं। उपर्युक्त सभी गुणोंसे श्रीरामकी वैसी ही शोभा हुई, जिस प्रकार सूर्यकी किरणोंसे सूर्यकी होती है—

गुणैर्विरुरुचे रामो दीप्तः सूर्य इवांशुभिः॥
(वा० रा० २।१।३३)

[समाप्त]

श्रीअरविन्द-शताब्दी-महोत्सवके मङ्गल-संदर्भमें श्रीअरविन्द-वाणी

मनुष्यका जीवन-संग्राम

प्रत्येक मनुष्य जीवन-संग्रामका सामना अपनी प्रकृतिके सर्वोपरि प्रधान गुणके अनुकूल ढंगसे ही किया करता है। सांख्यसिद्धान्तके अनुसार जगत्-प्रकृति त्रिगुणात्मिका है और इसलिये मनुष्य-स्वभाव भी त्रिगुणात्मक है। गीताको भी यह स्वीकार है। सत्त्व संतुलित अवस्था, ज्ञान और संतोषका गुण है; रज प्राणावेग, कर्म और द्वन्द्वमय भावावेगका और तम अज्ञान और जडताका। मनुष्यमें जब तमोगुणकी प्रधानता होती है, तब वह अपने चारों ओर चक्कर काटनेवाली और अपने ऊपर आ धमकनेवाली जगत्-शक्तियोंके वेगों और धक्कोंका उतना सामना नहीं करता; क्योंकि उनके सामने वह हिम्मत हार जाता, उनके प्रभावमें आ जाता, शोकाकुल हो जाता और उनकी अधीनता स्वीकार कर लेता है; अथवा अधिक-से-अधिक अपने अन्य गुणोंसे मदद पाकर किसी तरह बचे रहना भर चाहता है, जबतक टिक सके तबतक टिके रहना चाहता है, किसी ऐसे आचार-विचारसे बँधे जीवनक्रमके गढ़में छिपकर अपनी जान बचाना चाहता है, जिसमें पहुँचकर वह अपने-आपको किसी अंशमें इस संग्रामसे बचा हुआ समझे और यह समझे कि उसकी उच्चतर प्रकृति उससे जो कुछ माँग रही है, उसको वह अस्वीकार कर सकेगा तथा इस संघर्षको और आगे बढ़ाने और एक वर्धमान प्रयास एवं प्रभुत्वके आदर्शको चरितार्थ करनेकी मेहनतसे वह बरी हो सकेगा। रजोगुणकी जब प्रधानता होती है, तब मनुष्य अपने-आपको युद्धमें झोंक देता है और शक्तियोंके संघर्षका उपयोग अपने ही अहंकारके लाभके लिये, अर्थात् विरोधीको मारने, काटने, जीतने, उसपर प्रभुता पाने और जीवनका भोग करनेके लिये करता है, अथवा अपने सत्त्वगुणसे कुछ मदद पाकर इस संघर्षको अपनी आन्तरिक प्रभुता, अन्तःसुख-शक्ति-सम्पत्ति बढ़ानेका एक साधन बना लेता है। जीवन-संग्राम उसके आनन्द और नशेकी चीज बन जाता है। इसका कारण कुछ तो यह होता है कि संघर्ष करना उसका स्वभाव होता है, इस तरहकी कर्मण्यतामें उसे एक सुख मिलता है और उसको अपनी शक्तिका अनुभव होता है, और कुछ यह कि यह उसकी वृद्धि और स्वाभाविक आत्मविकासका साधन होता है। जब सत्त्वगुणकी प्रधानता होती है, तब मनुष्य संघर्षके बीचमें धर्म, सत्य, संतुलित अवस्था, समन्वय, शान्ति, संतोषका कोई तत्त्व ढूँढ़ा करता है। विशुद्ध सात्त्विक मनुष्य इसीका अनुसंधान अपने अंदर करता रहता है, चाहे केवल अपने लिये ही करे अथवा यह भाव चित्तमें रक्खे कि जब चीज हासिल होगी, तब वह दूसरोंको भी दी जायगी; किंतु यह काम साधारणतया सक्रिय जगत्-शक्तिके झगड़े और कोलाहलसे अन्तर्निवृत्त होकर अथवा बाह्यतः उनका त्याग ही करके किया जाता है; पर सात्त्विक मनुष्य जब अंशतः राजसी वृत्ति ग्रहण भी करता है, तब इसको वह संघर्ष और बाहरी गड़बड़झालेके ऊपर संतुलित अवस्था और सामञ्जस्यको लादनेके लिये युद्ध, अनवन और संघर्षपर शान्ति, प्रेम और सामञ्जस्यको विजय दिलानेके लिये करता है। जीवन-समस्याको हल करनेके लिये मनुष्यका मन जो-जो ढंग अपनाता है, वे सब ढंग इन्हीं गुणोंमेंसे किसी एक गुणकी प्रधानतासे या इन गुणोंके बीच संतुलन और सामञ्जस्य स्थापित करनेके प्रयत्नसे ही उद्भूत होते हैं।

परंतु एक ऐसी भी अवस्था आती है, जब मन इस सारी समस्यासे ही फिर जाता है और प्रकृतिके त्रिविध प्रकारोंसे, त्रैगुण्यसे प्राप्त होनेवाले उपायोंसे असंतुष्ट होकर किसी ऐसे हलको ढूँढ़ने लगता है, जो त्रैगुण्यसे परे या ऊपर हो। किसी ऐसी चीजमें मन भाग जाना चाहता है, जो समस्त गुणोंके बाहर है या जो समस्त गुणोंसे सर्वथा रहित है और इसलिये जो कर्मरहित भी है, अथवा किसी ऐसी चीजमें, जो इन तीनों गुणोंसे श्रेष्ठ है और ये गुण जिसके वशमें हैं और इसलिये वहाँ पहुँचकर वह कर्म भी कर सकता और साथ-साथ अपने उस कर्मसे अलिप्त और अप्रभावित भी रह सकता है, जो या तो निर्गुण अवस्था है या त्रिगुणातीत अवस्था। मन अभीप्सा करता है निरपेक्ष शान्ति और निरुपाधि स्थितिके लिये अथवा प्रबल स्थिरता और श्रेष्ठतर स्थितिके लिये। प्रथमोक्त भावकी स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है संन्यासकी ओर और शेषोक्त भावकी प्रवृत्ति होती है निम्नगा प्रकृतिकी माँगों और उसकी क्रियाओं और प्रतिक्रियाओंके चक्करपर प्रभुत्व प्राप्त करनेकी ओर; और इसका सिद्धान्त होता है समताकी स्थापना तथा आवेगों और कामनाका आन्तरिक त्याग। अर्जुनके विषयमें

पहले वही प्रथमोक्त आवेग हुआ था, जिसके कारण कुरुक्षेत्रमें, अर्थात् युद्ध और हत्याकाण्डके घोर संहार-क्षेत्रमें अपने वीर कर्मसे होनेवाले दुःखद पर्यवसानसे उसका मन फिर गया; अबतक उसका जो कर्मसम्बन्धी सिद्धान्त था, वह लुप्त हो गया और उसको ऐसा बोध होने लगा कि अकर्म और जीवन तथा जीवनकी माँगोंका त्याग ही एक-मात्र उपाय है। परंतु भगवान् गुरुकी वाणी उसे जो कुछ करनेको कहती है, वह जीवन और कर्मका बाह्य संन्यास नहीं है, बल्कि वह है उनपर आन्तरिक प्रभुताकी स्थापना।

अर्जुन क्षत्रिय है—वैसा रजोगुणी पुरुष, जो अपने राजसिक कर्मको एक उच्च सात्त्विक आदर्शसे नियत करता है। इस भीषण संग्राममें, कुरुक्षेत्रके इस महासमरमें वह युद्धका हौसला लेकर, रणरङ्गमें मस्त होकर ही आया है, उसे अपने पक्षकी न्याय्यताका पूर्ण और साभिमान विश्वास भी है, वह अपने द्रुतगामी रथपर आरूढ़ होकर शत्रुओंके हृदयोंको अपने युद्ध-शङ्खके विजय-निनादसे विदीर्ण करता हुआ आगे बढ़ता है; क्योंकि वह देखना चाहता है कि उसके विरुद्ध खड़े होकर अधर्मका बल बढ़ाने और धर्म, न्याय और सत्यको कुचलकर उनके स्थानमें स्वार्थी और उद्दण्ड अहंकारकी प्रभुता स्थापित करने कौन-कौन राजा आये हैं। पर उसका यह विश्वास चूर-चूर हो गया और वह अपने सहज भावसे तथा जीवन-सम्बन्धी अपने मानसिक आधारपर-से एक भीषण आघात खाकर गिर पड़ा। इसका कारण यह हुआ कि राजसिक अर्जुनमें तमोगुणकी एक बाढ़ उमड़ आयी और इसने उसको आश्चर्य, शोक, भय, अनुत्साह, विषाद, मनकी व्याकुलता और उसके अपने ही तर्कोंके परस्पर-संग्रामद्वारा व्यथितकर, इस कार्यसे मुँह मोड़नेके लिये उकसाया और वह अज्ञान और जडतामें डूब गया। परिणाम यह हुआ कि वह संन्यासकी ओर मुड़ा। वह सोचने लगा कि 'यह घोर युद्धकर्म अच्छा नहीं, जिसका फल सबका संहार है; वह राज्य, यश और प्रताप किस कामका, जो नाश और रक्तपातसे ही प्राप्त होता है; ऐसे भोगोंकी कौन इच्छा करे, जो रक्तसे सने हुए हैं; न्याय और सत्यकी वह विजय क्या, जो समस्त धर्मोंको ही मिटानेवाली हो और उस सामाजिक विधानकी स्थापना ही क्या, जो एक ऐसे युद्धद्वारा हो, जिसकी प्रक्रिया और परिणाम उन सबको नष्ट करनेवाले हों, जिनसे समाज बनता है। क्षत्रियके इस धर्मसे तो भीख माँगकर जीनेवाले भिक्षुकका जीवन अच्छा।'

संन्यासका अर्थ है—जीवन और कर्म तथा प्रकृतिके त्रिगुणका त्याग; किंतु इस त्रिगुणमेंसे किसी एक गुणके द्वारा ही संन्यासकी ओर जाना होता है। संन्यासकी ओर जानेका यह आवेग हो सकता है कि तामसिक हो, अर्थात् क्लीवता, भय, विद्वेष, जुगुप्सा तथा जगत् और जीवनसे त्रास अनुभव होता हो; अथवा हो सकता है कि यह तमकी ओर झुका हुआ राजसिक गुण हो, अर्थात् संघर्षसे थकावट मालूम पड़ने लगी हो, शोक छा गया हो, निराशा उत्पन्न हुई हो और कष्ट तथा अनन्त असंतोषसे भरे हुए कर्मके इस व्यर्थके हुल्लड़को स्वीकार करनेसे जी ऊब गया हो। अथवा हो सकता है कि यह सत्त्वकी ओर झुका हुआ राजसिक आवेग हो, अर्थात् यह जीवन जो कुछ दे सकता है, उससे किसी श्रेष्ठ वस्तुतक पहुँचने, किसी उच्चतर अवस्थापर विजय प्राप्त करने, समस्त बन्धनोंको तोड़नेवाली और समस्त सीमाओंको पार करनेवाली किसी आन्तरिक शक्तिके पैरोंतले स्वयं जीवनको ही कुचल डालनेका आवेग उठा हो। अथवा हो सकता है कि यह सात्त्विक हो, अर्थात् जीवनकी निस्सारताका और इस जगत्-जीवनके किसी सच्चे लक्ष्य या औचित्यके बिना ही निरन्तर चक्कर काटते रहनेका एक बौद्धिक आभास हुआ हो या फिर उस सनातन, उस अनन्त, उस निश्चल-नीरव, उस नामरूपरहित परात्पर शान्तिका कोई आध्यात्मिक अनुभव हुआ हो और इसलिये जगत्-जीवन और कर्मसे संन्यास ले लेनेका आवेग उठा हो। अर्जुनको जो विराग हुआ है, वह सत्त्वकी ओर प्रवृत्त रजोगुणी पुरुषका कर्मसे तामस विराग है। गुरु चाहें तो उसे इसी रास्तेपर स्थिर कर सकते हैं, इसी अँधेरे दरवाजेसे विरक्त जीवनकी शुद्धता और शान्तिमें उसे प्रविष्ट करा सकते हैं, अथवा इस वृत्तिको तुरंत शुद्ध करके वे उसे संन्यासकी सात्त्विक प्रवृत्तिके अत्युच्च शिखरोंपर चढ़ा सकते हैं। पर वास्तवमें वे इन दोनोंमेंसे एक काम भी नहीं करते। गुरु उसके तामस विराग और संन्यास ग्रहण करनेकी प्रवृत्तिसे उसका चित्त फेरते हैं और कर्मको ही चालू रखनेके लिये कहते हैं और वह भी उसी भीषण और घोर कर्मको। परंतु इसके साथ ही वे उसे एक और ऐसे आन्तरिक वैराग्यका निर्देश करते हैं, जो उसके संकटका सच्चा निराकरण है, और जो विश्व-प्रकृतिपर जीवकी श्रेष्ठता स्थापित करनेका रास्ता है और यह होते हुए भी जो मनुष्यको स्थिर और आत्म-अधिकृत कर्ममें प्रवृत्त रखता है। शारीरिक नहीं, बल्कि आन्तरिक तपस्या ही गीताको अभिप्रेत है। ('गीताप्रबन्ध'से)

गांधी-जीवन-सूत्र

कुछ फिकर नहीं !

(लेखक—श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट)

अभय था गांधीजीका एक जीवन-सूत्र ।

अभय माने क्या ?

अभय माने डरना नहीं—किसीसे डरना नहीं, किसी बातकी फिकर न करना, किसी बातकी चिन्ता न करना ।

१ मार्च १९४२के 'हरिजन'में गांधीजीने लिखा था—

'सच तो यह है कि मरना हमें पसंद नहीं होता । इसलिये आखिर हम घुटने टेक देते हैं । कोई मरनेके बदले सलाम करना पसंद करता है । कोई धन देकर जान छुड़ाता है । कोई मुँहमें तिनका लेता है । कोई चींटीकी तरह रेंगना पसंद करता है । इसी तरह कोई स्त्री लाचार होकर, जूझना छोड़कर, पुरुषकी पशुताके वश हो जाती है ।...

'सलामीसे लेकर सतीत्व-भङ्गतककी सभी क्रियाएँ एक ही चीजकी सूचक हैं । जीवनका लोभ मनुष्यसे क्या-क्या नहीं कराता । अतएव जो जीवनका लोभ छोड़कर जीता है, वही जीता है । जीवनका स्वाद लेनेके लिये हमें जीवनके लोभका त्याग कर देना चाहिये ।'

× × ×

गांधीजीके जीवन-व्रतोंमें अभयका विशिष्ट स्थान था । २ सितम्बर ३० को 'मङ्गल-प्रभात' में उन्होंने इस व्रतकी व्याख्या करते हुए लिखा था—

'अभयके बिना दूसरी सम्पत्तियाँ नहीं मिल सकतीं । अभयके बिना सत्यकी खोज कैसे हो सकती है । अभयके बिना अहिंसाका पालन कैसे हो सकता है । हरिके मार्गपर चलना खाँड़ेकी धारपर चलना है । वहाँ कायरका काम नहीं है । सत्य ही हरि है । वही राम है । वही नारायण है । वही वासुदेव है । कायर अर्थात् भयभीत, डरपोक । वीरके मानी हैं—भयमुक्त, तलवार आदि लटकानेवाला नहीं । तलवार शूरताका चिह्न नहीं, बल्कि भीरुताकी निशानी है ।

'अभयके मानी हैं—भयमात्रसे मुक्ति । मौतका भय, धन-दौलत लुट जानेका भय, कुटुम्ब-परिवार-विषयक भय, रोग-भय, शस्त्र-प्रहारका भय, प्रतिष्ठाकी हानिका भय, किसीके बुरा माननेका भय । भयकी यह वंशावली चाहे जितनी लंबी बढ़ायी जा सकती है ।

'साधारणतः कहा जाता है कि सिर्फ एक मृत्यु-भयको जीत लिया तो सब भयोंको जीत लिया । परंतु यह यथार्थ नहीं जान पड़ता । बहुतेरे लोग मौतका भय छोड़ देते हैं, तथापि अन्य प्रकारके दुःखोंसे भागते हैं । कुछ लोग मरनेको तैयार होनेपर भी सगे-सम्बन्धियोंका वियोग सहन नहीं कर सकते । कोई कंजूस इनकी परवा नहीं करेगा, देह छोड़ देगा, पर बटोरा हुआ धन छोड़ते घबरायेगा । कोई ऐसा होगा, जो अपनी कल्पित मान-प्रतिष्ठाकी रक्षाके लिये बहुत कुछ सियाह-सफेद करनेको तैयार हो जायगा और कर डालेगा । कोई संसारकी निन्दाके भयसे, जानते हुए भी सीधा मार्ग ग्रहण करनेमें हिचकिचायेगा ।

'सत्यकी शोध करनेवालेके लिये तो इन सब भयोंको तिलाञ्जलि देनेसे ही छुटकारा मिलेगा । हरिश्चन्द्रकी तरह पामाल होनेके लिये उसकी तैयारी होनी चाहिये ।'

× × ×

''सच है कि जो मनुष्य सत्यकी शोध करना चाहता है, वह यदि डरता है, किसीसे भी डरता है, किसी भी कारणसे डरता है, तो वह सत्यकी शोध नहीं कर सकता । भयकी वंशावलीका पार नहीं है । भयका परिवार रावणके परिवार-जैसा है, जिसके 'नातीपोतापूत हजार !' 'हाय, कहीं ऐसा न हो जाय ! हाय, कहीं वैसा न हो जाय !'—ऐसी एक नहीं, अनेक चिन्ताएँ मनुष्यको सताती रहती हैं और वह बेचारा भयके समुद्रमें रात-दिन गोते लगाया करता है ।

''जो मनुष्य जीवनमें आगे बढ़ना चाहता है, कोई भी महत्त्वपूर्ण कार्य करना चाहता है, अन्याय और अत्याचारका विरोध करना चाहता है, सत्यके, ईमानदारीके रास्तेपर बढ़ना चाहता है, वह यदि मनमें किसीसे डरता रहेगा तो कुछ नहीं कर सकता । सत्यका रास्ता बड़ा टेढ़ा है । यह तो 'तलवार की धार पै धावनौ है ।' शीश-अर्पणका सौदा है । सिर कटानेका सौदा है ।

"जो आदमी डरता है, किसीसे भी डरता है, वह न सत्यकी साधना कर सकता है, न अहिंसाकी। वह न अपना उद्धार कर सकता है न समाज, देश अथवा संसारका। कायर और बुजदिल, नामर्द और डरपोक लोग जीवनमें क्या करेंगे।

"जीवनमें सफलता उसीको मिलती और मिल सकती है, जो वीर होता है, बहादुर होता है, साहसी होता है। एक वीर पुरुष हजारों-लाखों लोगोंको परास्त कर देता है। एक वीर रमणी हजारों-लाखों योद्धाओंके छक्के छुड़ा देती है। एक वीर बालक हजारों-लाखों आदमियोंको पस्त कर देता है।"

× × ×

गांधीजीने अहिंसाको अपना जीवनव्रत बनाया तो बहुत लोगोंने सोचा कि गांधी तो डरपोक बनिया है, वह न किसीको मार सकता है न किसीको मारनेकी बात सोच सकता है।

गांधीजीकी अहिंसाका लोगोंने इस तरह गलत अर्थ लगा लिया। नतीजा क्या हुआ? खतरेका मौका सामने आया कि लोग अपने घर-परिवारवालोंको मुसीबतमें पड़ा छोड़कर भाग खड़े हुए। बेतियामें तो एक बार तमाशा ही खड़ा हो गया। पासके एक गाँवके लोगोंने गांधीके पास जाकर कहा कि 'जब पुलिसके जवान हमारे घरोंको लूट रहे थे और हमारी स्त्रियोंको सता रहे थे, तब हम वहाँसे भाग गये।'

'क्यों?'

"आपने ही तो हमसे कहा था—'अहिंसक बने रहना। किसीपर हाथ मत उठाना। किसीको मारना मत।'"

शर्मसे कट गये गांधी।

उन्होंने इन बुजदिलोंसे कहा—'मेरी अहिंसाका अर्थ नामर्दी, कायरता या बुजदिली नहीं है। मैं तुमसे यह आशा रखता था कि तुम अपने आश्रितोंको मुसीबतमें पड़ा देखकर उन्हें छोड़कर कभी भागोगे नहीं, चाहे तुमपर हमला करनेवाली ताकत कितनी ही बड़ी क्यों न हो। भले ही मौत आ जाय, पर तुम मौकेपर डटे रहोगे। अहिंसाका मतलब यह थोड़े ही है कि तुम कायर बन जाओ और मौकेसे भाग खड़े हो। अहिंसा वीरोंका धर्म है। अन्यायीको चोट पहुँचानेकी इच्छा रखे बिना उसका अत्याचार शान्तिपूर्वक सहना और अन्ततक मुकाबलेमें डटा रहना अहिंसा है।'

गांधीजी कहते थे कि 'अहिंसा डरपोकका, निर्बलका धर्म नहीं है। वह तो बहादुर या जानपर खेलनेवालेका धर्म है। तलवारसे लड़ते हुए जो मरता है, वह अवश्य बहादुर है; किंतु जो मारे बिना धैर्यपूर्वक खड़ा-खड़ा मरता है, वह अधिक बहादुर है। मारके डरसे जो अपनी स्त्रियोंका अपमान सहन करता है, वह मर्द नहीं, नामर्द है। वह न पति बनने लायक है न पिता या भाई बनने लायक।'

हिंदी 'नव-जीवन', ११-१०-२८

× × ×

गांधीजी मानते थे कि कायरताकी अपेक्षा तो बहादुरीके साथ शारीरिक बल काममें लाना हजार दर्जे अच्छा है। कायरताके बजाय लड़ते-लड़ते मर जाना हजारगुना अच्छा है। उनका कहना था—

'मेरा धर्म मुझे शिक्षा देता है कि औरोंकी रक्षाके लिये अपनी जान दे दो। दूसरोंको मारनेके लिये हाथतक न उठाओ। पर मेरा धर्म मुझे यह कहनेकी भी छुट्टी देता है कि अगर ऐसा मौका आये कि अपने आश्रित लोगों या जिम्मेके कामको छोड़कर भाग जाने या हमला करनेवालेको मारनेमेंसे किसी एक बातको पसंद करना है तो यह हर शख्सका कर्तव्य है कि वह मारते हुए वहीं मर जाय, अपनी जगह छोड़कर भागे हर्गिज नहीं।

"मुझे ऐसे हट्टे-कट्टे पचहत्ते लोगोंसे मिलनेका दुर्भाग्य प्राप्त हुआ है, जो सीधे सरल भावसे आकर मुझसे कहते हैं, जिसे मैंने बड़ी शर्मके साथ सुना है कि 'मुसलमान बदमाशोंको हिंदू अबलाओंपर बलात्कार करते हुए हमने अपनी आँखों देखा है।' जिस समाजमें जवाँ-मर्द लोग रहते हों, वहाँ बलात्कारकी आँखों-देखी गवाहियाँ देना प्रायः असम्भव होना चाहिये। ऐसे जुर्मकी खबर देनेके लिये एक भी शख्स जिंदा नहीं रहना चाहिये।'

"एक भोला-भाला पुजारी, जो अहिंसाका मतलब नहीं जानता था, मुझसे खुशी-खुशी आकर कहता है—'साहब, जब हुल्लड़बाजोंकी भीड़ मन्दिरमें मूर्ति तोड़नेको घुसी, तब मैं बड़ी होशियारीसे छिप रहा!'

"मेरा मत है कि ऐसा आदमी पुजारी होनेके लायक बिल्कुल नहीं है। उसे तो वहीं मर जाना चाहिये था। तब उसने अपने रक्तसे मूर्तिको पवित्र कर दिया होता। और अगर उसमें इतनी हिम्मत नहीं थी कि अपनी जगहपर बिना हाथ उठाये और मुँहसे यह प्रार्थना करते हुए कि

'ईश्वर, इस खूनीपर रहम कर !' मर मिटे तो उस हालतमें उन मूर्ति तोड़नेवालोंका संहार करना भी उसके लिये ठीक था। परंतु अपने इस नश्वर शरीरको बचानेके लिये छिप रहना मनुष्योचित नहीं था।"

× × ×

"साफ है कि अहिंसा वीरोंका धर्म है, कायरोंका नहीं। जो अहिंसा कायरता या बुजदिली सिखाती है, वह अहिंसा ही नहीं है। अहिंसाका पुजारी तो बड़ी-से-बड़ी शक्तिसे भी डटकर लोहा लेता है और निर्भयतापूर्वक लोहा लेता है। उसका प्राण जाय या रहे, उसका जीवन मिटे या बचे, उसकी सम्पत्ति स्वाहा हो या रह जाय, उसका सम्मान रहे या जाय, इसकी उसे रत्तीभर चिन्ता नहीं रहती। कर्तव्यका पालन करनेके लिये वह निर्भय होकर आगे बढ़ता है।

"अहिंसाकी अनिवार्य शर्त है—अभय। जिस व्यक्तिके हृदयमें डर समाया रहता है, वह अहिंसाका पालन कर ही नहीं सकता। अहिंसक तो निर्भय होकर अन्याय और अत्याचारका मुकाबला करता है। उसे न अपने प्राणोंकी परवा रहती है, न किसी भौतिक सम्पत्तिकी। नश्वर शरीरकी रक्षाके लिये अहिंसक कभी भी गलत कामका समर्थन नहीं करता। वह मिट जायगा, टुकड़े-टुकड़े हो जायगा, पर अन्याय, अत्याचार, शोषण और दोहनका समर्थन नहीं करेगा। कोई लाठी या बंदूक दिखाकर, पिस्तौल और तमंचा दिखाकर उसे सत्यके मार्गसे विचलित नहीं कर सकता। उसे किसी भी वस्तुकी, किसी भी व्यक्तिकी परवा नहीं रहती। किसी भी चीजकी चिन्ता नहीं रहती; वह सदा निर्भय, निश्चिन्त और मस्त रहता है।

× × ×

शायद जनवरी १९१५ की बात है।

गांधीजी गये थे 'कैसरे हिंद'का तमगा लेने पूना।

रातकी गाड़ीसे उन्हें जाना था। श्रीप्रभाकर पट्टणी उन्हें स्टेशन पहुँचाने गये।

तीसरे दर्जेका एक डिब्बा। सिपाहियोंसे ठसाठस भरा। गांधी भीतर घुसने लगे तो एक सिपाही संगीन तानकर सामने खड़ा हो गया।

'कुछ फिकर नहीं' कहते हुए गांधीजी डिब्बेमें भीतर घुस गये।

डिब्बेमें जगह तो थी नहीं।

गांधीजी एक सिपाहीके पैरोंके पास बैठ गये।

पट्टणी साहबने पूछा—'कहाँ बैठोगे, गांधी ?'

गांधी—'कुछ फिकर नहीं।'

गाड़ी चलनेको हुई। पट्टणीने फिर कहा—'अब तो पेट भर गया ? चलो, किसी दूसरे डिब्बेमें कोशिश की जाय।'

गांधीने फिर अपना वही सूत्र दोहराया—

'कुछ फिकर नहीं !'

पट्टणी साहबने समझ लिया—इस आदमीको कुछ भी कहना बेकार है। इसके जीवनका सूत्र ही है—'कुछ फिकर नहीं।'

और सचमुच गांधीजीका यह जीवन-सूत्र उनके जीवनमें आदिसे अन्ततक पिरोया था। न बंदूक उन्हें डरा सकती थी न तोप या तलवार।

मुसीबतें उनपर कम नहीं आयीं। हमले उनपर कम नहीं हुए। प्रहार उनपर कम नहीं किये गये। पर जब देखिये, उनके हर कार्यसे एक ही ध्वनि निकलती थी—

'कुछ फिकर नहीं !'

× × ×

गीताके स्थितप्रज्ञके लक्षणवाले श्लोक गांधीजीके जीवनके प्रेरणा-सूत्र थे। उसका पहला ही श्लोक है—

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥

(गीता २। ५५)

भगवान् कहते हैं—'पार्थ! जब मनुष्य अपने मनमें उठनेवाली सारी कामनाओंका त्याग कर देता है और आत्मासे आत्मामें ही संतुष्ट रहता है, तब वह स्थितप्रज्ञ कहलाता है।'

मतलब ?

सारी कामनाओंका त्याग कर देना और आत्मामें ही संतुष्ट रहना—यह है 'स्थितप्रज्ञ' होनेकी कसौटी।

कामनात्यागका ही अर्थ है—'कुछ फिकर नहीं।' किसी बातकी चिन्ता नहीं। किसी व्यक्तिकी चिन्ता नहीं। हर स्थितिका स्वागत। हर परिस्थितिका स्वागत। न किसीका डर न किसीकी चिन्ता। न किसीका लालच न किसीका मोह।

और ऐसा व्यक्ति तो सदा प्रसन्न रहेगा ही । उसकी आत्मा सदैव संतुष्ट रहेगी ही ।

इसकी व्याख्या करते हुए गांधीजी कहते हैं—

'आत्मासे ही आत्मामें संतुष्ट रहना अर्थात् आत्माका आनन्द अंदर खोजना । सुख-दुःख देनेवाली बाहरी चीजोंपर आनन्दका आधार न रखना ।

'आनन्द सुखसे भिन्न वस्तु है; यह ध्यानमें रखना चाहिये । मुझे धन मिलनेपर मैं उसमें सुख मानूँ, यह मोह है । मैं भिखारी होऊँ, भूखका दुःख होनेपर भी चोरी या दूसरे प्रलोभनोंमें न पड़नेमें जो बात मौजूद है, वह आनन्द देती है और वही आत्मसंतोष है ।'

गांधीमें यह आत्म-संतोष कूट-कूटकर भरा था । और जिसमें यह आत्म-संतोष होगा, वही व्यक्ति हर परिस्थितिमें कहेगा—

'कुछ फिकर नहीं ।'

× × ×

सवाल है कि हम 'कुछ फिकर नहीं'—इस सूत्रको किस प्रकार अपने जीवनमें प्रतिष्ठित करें ?

यहाँ तो हम पल-पलपर विचलित होने लगते हैं, कदम-कदमपर चिन्तित और भयभीत होने लगते हैं । गांधीजीकी निर्भीकता और निश्चिन्तता हम कैसे प्राप्त करें ?

आइये, हम देखें कि स्वयं गांधीजीने यह निर्भीकता और निश्चिन्तता कैसे प्राप्त की । उसकी कहानी भी बड़ी मजेदार है ।

गांधीको बचपनमें कुछ 'मित्र' मिल गये । मित्र अच्छा मित्र है अथवा कुमित्र है, इसका पता शुरूमें तो चलता नहीं । धीरे-धीरे बादमें पता चलता है । भले मित्र मिले, तब तो गनीमत है; कुमित्र मिल गये तो सारा जीवन ही नष्ट हो जाता है । कारण, ऐसे कुमित्रोंका एक ही ध्येय रहता है—मैं तो डूबूँगा, मगर यारको ले डूबूँगा ।

हाँ, तो गांधीजी भी ऐसे कुछ कुमित्रोंके चक्करमें फँस गये ।

खूब हट्टे-कट्टे मित्र ।

इन मित्रके पराक्रमोंपर गांधी मुग्ध हो जाते । वे खूब दौड़ते, तेज दौड़ते । खूब लंबा और ऊँचा कूदते । मार खानेमें भी उस्ताद थे ।

गांधीजी इनके जौहर देखते और मनमें सोचते, 'काश, मैं भी इन्हींकी तरह होता ।'

पर गांधीजी ठहरे सिकिया (सींक-जैसे) पहलवान । दो हड्डियोंका ढाँचा । इतना ही नहीं, गांधीजी डरपोक भी थे अव्वल नंबरके ।

चोरका डर उन्हें सताता । भूतका डर उन्हें सताता । साँप-बिच्छूका डर उन्हें सताता ।

'आत्मकथा'में लिखा है उन्होंने—

'मैं बहुत डरपोक था । चोर, भूत, साँप आदिके डरसे घिरा रहता था । ये डर मुझे हैरान भी करते थे । रातको कहीं अकेले जानेकी हिम्मत नहीं थी । अँधेरेमें तो कहीं जाता ही न था । दीयेके बिना सोना लगभग असम्भव था । कहीं इधरसे भूत न आ जाय, उधरसे चोर न आ जाय और तीसरी जगहसे साँप न निकल जाय ! इसलिये बत्तीकी जरूरत तो रहती ही थी । पासमें सोयी हुई पत्नीसे भी अपने इस डरकी बात मैं कैसे कहता ? मैं समझ चुका था कि वह मुझसे ज्यादा हिम्मतवाली है और इसलिये मैं शरमाता था । साँप आदिसे डरना तो वह जानती ही न थी । अंधेरेमें वह अकेली चली जाती थी ।'

गांधीजीके ये मित्र गांधीजीकी इस कमजोरीको जानते थे । उन्होंने गांधीजीसे कहा—'इन सब डरोंसे मुक्त होनेका एक ही उपाय है, और वह है—मांसाहार ।'

गांधीजी बेचारे इनके चक्करमें फँस तो गये, पर माता-पिताको धोखा न देनेके शुभ विचारने उन्हें इस प्रसङ्गसे बचा दिया । सत्यके प्रति उनकी लगन और निष्ठाने उनकी रक्षा की ।

पर डर तो अभी उनके मनमें था ही ।

गांधीजीका भय गया—रामनामसे ।

स्कूलमें गांधीजीको धर्मकी शिक्षा नहीं मिली । वैष्णव-परिवारमें गांधीजी पैदा हुए थे । वहाँकी हवेली (आचार्य-गृह) ने भी उन्हें कुछ शिक्षा नहीं दी, परंतु हवेलीसे उन्हें

जो नहीं मिल सका, वह उन्हें मिल गया उनकी धाय रम्भासे। रम्भा गांधी-परिवारकी पुरानी नौकरानी थी। गांधीने उससे कहा कि 'मुझे भूत-प्रेत आदिका बड़ा डर लगता है।'

रम्भा बोली—'इसकी एक ही दवा है—राम-नाम। जब कभी तुम्हें डर लगे, तभी रामनाम जपने लगो, तुम्हारा डर भाग जायगा।'

बचपनमें गांधीजीने इस नुस्खेको आजमाना शुरू किया। रम्भापर उनकी बड़ी श्रद्धा थी। उस श्रद्धासे अभिभूत होकर गांधीजीने राम-नाम जपना शुरू किया। हालाँकि यह जप अधिक दिनोंतक नहीं चल सका, उसका अङ्कुर गांधीजीके हृदयमें जगा रहा।

राम-रक्षा-स्तोत्रका पाठ और लाधा महाराजसे सुने हुए तुलसी-रामायणके पाठका भी गांधीजीके मनपर गहरा असर हुआ। उनके पाठमें गांधीजीको बड़ा रस मिलता।

और यह तो है ही कि रामकथाका रस जिसे मिलने लगता है, उसके पास भय टिक ही नहीं सकते।

तो रामनाम और रामकथाके रसने गांधीजीका भय निर्मूल कर दिया। जो मनुष्य श्रद्धापूरित होकर रामका नाम लेता है, राम-कथामें रस लेता है, वह निर्भय और निश्चिन्त बनता है—इसमें संदेहका प्रश्न ही नहीं है।

प्रभु ही हमारे रक्षक हैं, प्रभु ही हमें सदा-सर्वदा बचानेवाले हैं, प्रभु ही हमारा पालन-पोषण करनेवाले हैं, प्रभु ही हमारे एकमात्र आधार हैं—ऐसा विश्वास जिसके हृदयमें जम जाय, उसे किसका डर रहेगा और क्यों रहेगा। उसका तो रोम-रोम पुकारेगा—

रन, बन, ब्याधि, बिपत्ति में 'रहिमन' मरिय न रोय।
जो रच्छक जननी जठर, सो प्रभु गयौ न सोय॥

प्रभु तो कभी सोते नहीं। आठ पहर, चौंसठ घड़ी वे हमारे मस्तकपर अपना वरद कर रखे रहते हैं; फिर हमें किसका डर।

× × ×

हाँ, अभयकी साधनामें एक सावधानीकी आवश्यकता है। गांधीजीने ठीक ही कहा है—

"हमें बाहरी भयोंसे मुक्ति पानी है। भीतर जो शत्रु मौजूद हैं, उनसे तो डरकर ही चलना है। काम-क्रोध आदिका भय वास्तविक भय है। इसे जीत लेनेसे बाहरी भयोंका उपद्रव अपने-आप मिट जाता है। भयमात्र देहके कारण है। देह-सम्बन्धी राग-आसक्ति दूर हो तो अभय सहज ही प्राप्त हो जाय। इस दृष्टिसे देखें तो पता चलेगा कि भयमात्र हमारी कल्पनाकी सृष्टि है। धनमेंसे, कुटुम्बमेंसे, शरीरमेंसे 'ममत्व'को दूर कर दें, उनमेंसे 'अपनापन' निकाल दें तो फिर भय कहाँ रह जायगा। 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः'—यह रामबाण वचन है। कुटुम्ब, धन, देह जैसे-केतैसे रहेंगे; पर उनके सम्बन्धमें अपनी कल्पना हमें बदल देनी होगी। ये 'हमारे' नहीं, 'मेरे' नहीं, ईश्वरके हैं। मैं भी उसीका हूँ। मेरा अपना इस जगत्में कुछ भी नहीं है। तब फिर मुझे किसका भय हो सकता है।

"इसीसे उपनिषत्कारने कहा है कि 'उसका त्याग करके उसे भोगो।' अर्थात् हम उसके मालिक न बनकर रक्षक बनें। जिसकी ओरसे हम रक्षा करते हैं, वह उसकी रक्षाके लिये आवश्यक शक्ति और सामग्री हमें देगा। यों यदि हम स्वामी न रहकर सेवक बनें, शून्यवत् होकर रहें, तो सहज ही सारे भयोंको जीत लें, हम सहज ही शान्ति पा जायँ और सत्यनारायणके दर्शन प्राप्त कर लें।"

सुख, शान्ति और आनन्दकी त्रिवेणीमें स्नान करनेका एकमात्र साधन यही है कि हम मोह-ममताका त्याग करके प्रभु-चरणारविन्दोंमें अपनेको अर्पित कर दें। फिर चाहे जैसी परिस्थिति आयेगी, हमारे रोम-रोमसे एक ही ध्वनि निकलेगी—

'कुछ फिकर नहीं।'

नटराज

(लेखक—श्रीसुदर्शनसिंहजी)

महीं पादाघाताद्व्रजति सहसा संशयपदं
पदं विष्णोर्भ्राम्यद्भुजपरिघरुग्णग्रहगणम् ।
मुहुर्द्यौर्दौःस्थ्यं यात्यनिभृतजटाताडिततटा
जगद्रक्षायै त्वं नटसि ननु वामैव विभुता ॥

(महिम्नःस्तोत्र)

'नटराजके रूपमें नृत्य करते समय आपके चरणोंकी चोटसे पृथ्वी सहसा पातालमें धँसनेको हो जाती है, अन्तरिक्षलोकमें आपकी परिघ-जैसी भुजाओंके चालनसे ग्रहगण पीड़ित होने लगते हैं। आपकी चञ्चल जटाओंके प्रहारसे तटोंके निरन्तर प्रताड़ित होते रहनेके कारण स्वर्गलोककी स्थिति संकटापन्न हो जाती है। प्रभो! यह कैसी विडम्बना है कि आप यह नृत्य करते तो हैं जगत्की रक्षाके लिये, परंतु इसका परिणाम होता है उल्टा। आपकी विभुता भी विपरीतगामिनी है।'

आपका चित्त चञ्चल है? उसे आप एकाग्र नहीं कर पा रहे हैं? अच्छा, उसे चञ्चल रहने दीजिये। उसकी चञ्चलताको साधन न बनाया जा सकता हो, ऐसी तो कोई बात नहीं है।

आप चाहे नटनागरका ध्यान कीजिये अथवा नटराजका—चित्तकी चञ्चलता सार्थक हो जायगी।

कर्पूर-गौर चतुर्भुज श्रीमूर्ति! किंतु यह श्रीमूर्ति कितनी बड़ी? इसके ध्यानसे पूर्व इसके आकारको तो मनमें आना चाहिये।

देखिये, प्रकाशकी गति आजके वैज्ञानिक एक सेकंड लगभग तीन लाख किलोमीटर मानते हैं। यह प्रकाश एक वर्षमें जितनी दूर चलता है, उस दूरीका नाम एक 'प्रकाशवर्ष' है।

यह आप जो आकाशमें दूधिया पथ देखते हैं, जिसे हम-आप 'आकाशगङ्गा' कहते हैं, वैज्ञानिक इसे 'नीहारिका-मण्डल' कहते हैं। इसमें कई करोड़ तारे हैं और वे सब-के-सब सूर्य हैं। इनमें अपने सूर्यके सबसे निकट जो सूर्य (तारा) पड़ता है, वह पृथ्वीसे चार सौ प्रकाशवर्ष दूर है। कुछ तारे (सूर्य) तो पृथ्वीसे लाखों-करोड़ों नहीं, कई अरब प्रकाशवर्ष दूर हैं।

दूरीकी बात यहीं नहीं समाप्त होती। इस देवयानी नीहारिका-मण्डलके पार दूसरा नीहारिका-मण्डल है। इस प्रकार एकके पीछे दूसरा—अबतक बीससे अधिक नीहारिका-मण्डल यन्त्रोंकी सहायतासे देखे जा चुके हैं और वैज्ञानिक कहने लगे हैं—'यह क्रम अनुमानसे परे है, अनन्त है।'

भगवान् नटराज जब नृत्य करने लगते हैं—उनकी जटाओंके कशाघातसे ये तारे—ये कोटि-कोटि सूर्य अस्त-व्यस्त हो उठते हैं। कितना विस्तीर्ण है उन देवदेवका यह सगुण श्रीविग्रह—कल्पनाके पद थक जाते हैं। मनकी चञ्चलता शान्त हो जाती है।

अनन्त नन्हे अन्तरमें नहीं आया करता। अच्छा, जितना-जैसा आ सके, उतना-वैसा ही ध्यान कीजिये।

कर्पूरगौर श्रीअङ्ग विभूतिमण्डित है। अरुण कमल-कोमल चरण चञ्चल हो रहे हैं। ताण्डवकी गतिसे चरण उठ और गिर रहे हैं और उनके प्रत्येक आघातसे लगता है कि पृथ्वी अब चूर्ण हुई—अब फूटा ब्रह्माण्ड-घर।

कोटि-कोटि चन्द्रोंकी-सी ज्योत्स्ना उस दिव्य अङ्गसे झर रही है। कटिका व्याघ्रचर्म नागपाशसे जकड़ा है। कण्ठकी नीलिमा अपूर्व झलक दे रही है। करोंमें सर्पोंके कङ्कण और त्रिशूल, डमरू तथा खप्पर सुशोभित हैं—धधकता खप्पर विद्युज्ज्योतिःपुञ्ज त्रिशूल और गुरु-गम्भीर नाद करता डमरू। श्रुतियोंके स्वर तथा सम्पूर्ण कलाओं एवं विद्याओंके मूलसूत्र डमरूकी ध्वनिसे मूर्तिमान् होते जा रहे हैं।

त्रिशूल उठता है तो शत-शत तारक अस्त-व्यस्त हो जाते हैं। खप्परकी ज्वाला गगनको अग्निवर्ण बनाये दे रही है और डमरूकी ध्वनि—जैसे सम्पूर्ण विद्याएँ आज जन्म पाकर सार्थक हो गयीं।

तृतीय भालनेत्र स्थिर, बंद है। शेष दोनों दृग् अर्धोन्मीलित हो रहे हैं। कपिश जटा-कलाप नृत्यके वेगमें लहरा रहा है—लहराता जा रहा है और अपनी लपेटमें शत-सहस्र तारकोंको इधर-उधर फेंकता जा रहा है।

झर रही है भालचन्द्रकी अमृत-ज्योत्स्ना और उमड़ी पड़ रही है सिरसे भागीरथीकी धारा। वह दिव्य धारा दिशाओंको धो रही है। पावन हो रहे हैं उसके सीकरोंसे अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड-मण्डल!

नृत्य चल रहा है नटराजका । यह ध्येयमूर्ति है देवाधिदेवकी । इसका ध्यान कीजिये और देखिये कि चित्तकी चञ्चलता स्वतः स्तब्ध होती है या नहीं ।

यह नृत्य ध्वंसके लिये नहीं है । यह नृत्य है जगद्रक्षाके लिये । यह प्रलयंकरका ताण्डव नहीं है, यह नटराज शंकरका ताण्डव है । इसमें यह कोटि-कोटि ब्रह्माण्डोंका अस्त-स्वस्त-भाव—यह तो विभुकी क्रीड़ा है ।

इसी नृत्यके वेगपर अणु-अणु नृत्य कर रहा है । इसी नृत्यके वेगसे ग्रह-नक्षत्र-तारे—सब चक्कर काट रहे हैं । यह कभी हुआ या होगा, ऐसा नृत्य नहीं है । यह नृत्य तो चल रहा है—आज और अब भी चल रहा है ।

जगद्रक्षाके लिये यह नृत्य न चले, प्रकृति गतिहीन हो जायगी और गतिहीनताका अर्थ है—महाप्रलय । गति ही जीवन है, यह आप जानते हैं । जीवन—चेतना सृष्टिको मिलती है अपने परम अधिदेवके महानृत्यसे ।

भगवान् शंकरका नृत्य चल रहा है । बज रहा है उनका डमरू और उससे निरन्तर विद्याओंके मूलसूत्र ध्वनित हो रहे हैं । गूँज रही है वह अनाहत परावाणी । उसे अपने अन्तरमें जो श्रवण कर पाता है, उसका द्रष्टा ही तो ऋषि है ।

निखिलकलादिगुरुका यह नृत्य ! इसका ध्यान करें आप और आप स्वयं अनुभव करेंगे कि अभीष्ट कला अथवा विद्या आपके चित्तमें अकल्पनीय रूपसे उद्भासित हो उठी है । इससे अधिक आश्वासन कलाके उपासकके लिये और क्या हो सकता है ।

आप अन्तःकरणकी शुद्धि चाहते हैं ? नटराजका ध्यान कीजिये । ध्यान कीजिये ताण्डवरत उनके अरुण चरणोंका और उनके नखोंसे निस्सृत ज्योत्स्नाका । ध्यान कीजिये धू-धू धधकते खप्परका और डमरूकी गुरु-गम्भीर ध्वनिका । ध्यान कीजिये विद्युत्‌के समान चमकते-घूमते त्रिशूलका और लहराती कपिशवर्णा जटाओंमें फुंकारते नागोंका । दिशाओंका तमस् दूर करती सुकोमल चन्द्रज्योत्स्ना और जगतीके मलको धोती गङ्गाकी धाराका ध्यान कीजिये ।

आपका अन्तःकरण धुल जायगा । मनोमल खप्परकी ज्वालामें भस्म हो जायगा । हृदयके दोष श्रीचरणोंके नीचे पिस उठेंगे और उज्ज्वल ज्योति वहाँ निखर उठेगी ।

स्थिरका ध्यान—निर्विकार प्रशान्त ज्योतिका ध्यान करते हैं शान्त-मानस, निर्मल-मन योगीजन । यदि मन विकारी है, चञ्चल है तो कहा किसने कि आप स्थिर ज्योतिका ध्यान करें । आप चिरचञ्चल कन्हाईका या निरन्तर नृत्यरत नटराजका ध्यान क्यों नहीं करते ? चञ्चलके साथ चञ्चलकी पटती है और ऐसी पटती है कि मन इनका होकर रह जाता है ।

बात बहुत पुरानी है । तब शरीर युवा था और मनमें उत्साहकी यह दशा थी कि ऊधममें आनन्द आता था । श्रीबदरीनाथजीकी यात्रा करके लौट रहा था । तब राजपथ केवल देवप्रयागतक बना था । पैदल यात्रा थी । चमोलीमें मध्याह्न-विश्राम करके चलना था ।

'आज अंधड़ आयेगा । पत्थर गिरेंगे । अब सायंकालीन यात्रा आज नहीं होगी ।' कुलियोंने कहा ।

हिमालयमें जब आँधी आती है, अनेक स्थानोंपर पहाड़से नन्हीं कंकड़ियोंसे लेकर मनों भारी पत्थर लुढ़कते हैं । वे तोपसे छूटे गोलोंके समान वेगसे गिरते हैं । चीड़के पेड़ टूटकर या जड़से उखड़कर गिरते हैं ।

वाराणसी जिलेमें जन्म क्या हुआ—लगता है कि बाबा विश्वनाथके घरका ही बालक हूँ । आप इसे दोष नहीं कह सकते । मैं तो निमन्त्रण देता हूँ—आप भी कोई सम्बन्ध बना लें इन भोलेबाबासे, तो वे ठहरे भोले—उन्हें कहाँ अस्वीकार करना आता है ।

'नहीं—यात्रा रुकेगी नहीं । रात्रिमें अगली चट्टीपर रुकेंगे ।' मैंने कुलियोंको डाँट दिया और छड़ी उठाकर चल पड़ा । मनमें एक खुराफात आ गयी थी—'ये नगाधिराज पार्वती-पिता अपने नानाजी ही तो हैं । इनको सोते तो कई दिनसे देख रहा हूँ । इनका जाग्रत् रूप कैसा होता है ?'

मेरे साथ एक ही मित्र सहयात्री थे । कुली अनुभवी थे । वे सामान बाँधकर भी चले नहीं, रुक गये वहीं । आँधी आयी चमोलीसे मील सवा मील चलनेपर । धूलि और कंकड़ियोंकी बौछार बार-बार नेत्र बंद करनेको बाध्य करती थी और तब हमें खड़े हो जाना पड़ता था । पर्वतमें हवा इधर-उधर टकराती है । वायुवेग सामनेसे आता तो हम नेत्र बंद करके खड़े हो जाते और वेग दूसरी ओर होता तो चलने लगते ।

आँधीका वेग बढ़ा । छोटे पत्थर लुढ़कने लगे । वे मित्र

डरे। संयोगवश एक बाहर निकली शिला मिल गयी। उसके नीचे वे बैठ गये।

'नानाजी जाग गये!' मेरा मन अपनी धुनमें था। पैर चलते रहे। छोटे-बड़े पत्थर, चट्टानेंतक धड़ाधड़ गिरने लगीं। वृक्ष भी उखड़कर गिरे; किंतु नानाजीकी गोदमें दौहित्रको भय होता है?

उस दिन अनुभव हो गया कि युद्धस्थलमें, जहाँ तोपोंसे गोले बरसते होंगे, पत्रकार और सैनिकोंका चलना-फिरना कैसे होता होगा? अवश्य यह अन्तर था कि मैं भाग-दौड़ नहीं रहा था। मैं चल रहा था और वायुका वेग सामनेसे आता तो नेत्र हाथोंसे बंद करके खड़ा हो जाता था।

कोई चमत्कार नहीं था यह। कोई अद्भुत बात भी नहीं। आप नटराजका ध्यान करके देखें—कुछ दिन ध्यान करें और प्रचण्ड नृत्यवेग, टूटते-गिरते शत-शत सूर्यमण्डल आपके चित्तको क्षुब्ध करनेमें असमर्थ हो जायँगे।

भय नहीं, क्षोभ नहीं, उद्विग्नता नहीं। एक अकेले महादेव डमरू बजाते, त्रिशूल उठाये आनन्दमग्न नृत्य कर रहे हैं—यह ध्यान आपकी सब दुर्बलताओंको ध्वस्त कर देगा।

दिशाएँ क्षण-क्षण काँपती हैं। धरा डगमग होती है। पवनकी गति भी स्थिर है। समस्त ब्रह्माण्ड जैसे एकलय, एकतान, एकप्राण हो रहा है नृत्यकी गतिसे। दूसरा शब्द नहीं, दूसरी गति नहीं, दूसरा कम्पन नहीं।

इस नटराज-राजकी नृत्य-गतिमें मन-प्राणको एक हो जाने दीजिये। मुक्ति और क्या है—इन परम पुरुषसे तादात्म्य। तादात्म्य तो वे स्वतः कर लेंगे—आप तो ध्यान कीजिये उनका। अपने हृदयाङ्गनमें उनको नृत्य करने दीजिये।

जटाकटाहसम्भ्रमभ्रमन्निलिम्पनिर्झरी-
विलोलवीचिवल्लरीविराजमानमूर्धनि।
धगद्धगद्धगज्ज्वलल्ललाटपट्टपावके
किशोरचन्द्रशेखरे रतिः प्रतिक्षणं मम॥

'जटाओंके कटाहमें मार्ग न मिलनेसे चक्कर काटती हुई देवनदी गङ्गाकी चञ्चल लहरियोंसे जिनका मस्तक सुशोभित है, जिनके ललाट-प्रदेशमें स्थित तृतीय नेत्रमेंसे धक्-धक् करती हुई अग्निकी ज्वालाएँ निकल रही हैं तथा जो नवीन चन्द्रमाको शिरोभूषण बनाये रहते हैं, उन चन्द्रचूड भगवान् शंकरमें मेरा प्रतिक्षण प्रेम हो।'

वह जटाओंसे शत-सहस्र धाराओंमें झरती गङ्गाकी भुवन-पावनी धारा और वह धू-धू धधकता करका खप्पर—सम्भव है कि मनमें यह मूर्ति आये और मनोमल अवशिष्ट रह जाय?

'बड़ी उग्र मूर्ति है!' मेरे एक मित्रने कहा! कोमलहृदय 'इसका ध्यान नहीं कर सकता तो नटराजकी एक कोमल मूर्ति है। कन्हाई भी तो यही हैं। यमुनाह्रदमें शतैकशीर्षा कालिय-के फणोंपर नृत्य करते हुए श्यामका ध्यान कर लें आप। नटराजके ध्यानका ही फल देगा यह ध्यान भी।

मनको प्रबोध

पायौ बड़े भागनि सौं आसरौ किसोरी जू कौ,
ओर निरबाहि नीकैं ताही गहि गहि रे।
नैननि तें निरखि लड़ैती कौ बदन-चंद,
ताहि कौ चकोर ह्वै कैं रूप-सुधा लहि रे॥
स्वामिनी की कृपा तैं अधीन ह्वैहैं 'ब्रजनिधि',
तातें रसना सौं नित स्यामा-नाम कहि रे।
मन मेरे मीत, जो कही मानै मेरी, तौ तू
राधा-पद-कंज कौ भ्रमर ह्वै कैं रहि रे॥

—ब्रजनिधि

रामप्रेमी संत सरमद

(लेखक—श्रीशिवनाथजी दुबे)

'नंगा रहनेसे क्या फायदा ?' बादशाह औरंगज़ेब जुम्माके दिन नमाज पढ़ने जामामसजिद जा रहा था कि उसने मार्गमें संत सरमदको [जहाँ आज उनकी समाधि है] एक पेड़के नीचे नंग-धड़ंग बैठे देखा । अत्यन्त चिढ़कर उसने कहा—'खुदाके लिये पास पड़ा कंबल तो अपने ऊपर डाल लेते ।'

बड़े ही उदास मनसे संत सरमदने यह शैर कहा—

> अँकस कि तुरा ताजे जहाँबानी दाद ।
> मारा हमा असबाबे परीशानी दाद ॥
> पोशाँद लिबास हरकेरा ऐबे दीद ।
> बे-ऐबाँरा लिबासे उरियानी दाद ॥

'जिसने तुझे यह बादशाहीका ताज अता किया है, उसीने मुझे यह परीशानीका सामान दिया है । उसने जिसको ऐबोंवाला देखा, दोषोंसे भरा पाया, उसको लिबास पहनाकर उसके ऐबोंको ढक दिया और जिसे उसने बेऐब देखा—निर्दोष पाया, उसे वस्त्र पहनाये बिना ही नंगा रहने दिया । उसे उरियानीका लिबास दे डाला ।'

फिर कुछ मुस्कराकर उन्होंने औरंगज़ेबसे कहा—'पर तुम्हें मेरा नंगा रहना अच्छा नहीं लगता तो यह कंबल उठाकर मेरे शरीरपर डाल दो । मुझमें तो इसे उठाकर अपने ऊपर डालनेकी ताक़त नहीं है ।'

'या ख़ुदा !' औरंगज़ेबने कंबल उठाया ही था कि उसके मुँहसे चीख निकल गयी । कंबलके नीचे औरंगज़ेबने उन लोगोंके कटे सिर देखे, जिन्हें उसने क़त्ल किया था । कंबल उसके हाथसे छूटकर गिर गया ।

'अब तुम्हीं बताओ, किसे ढकना जरूरी है ?' सरमदने फिर उदासीसे कहा—'मेरे बदनको या··· ?'

औरंगज़ेब सिर झुकाये चला गया ।

× × ×

सरमद यहूदी थे, पर बादमें उन्होंने इस्लाम-धर्म ग्रहण कर लिया था । मध्य एशियासे भारतवर्षमें व्यापारकी दृष्टिसे आये थे । पहले सिंधमें रहे, फिर भारतवर्षके दूसरे मार्गोंमें भी गये । सिंधमें अभयचंद नामक एक वैश्य-पुत्रने उन्हें अत्यन्त मधुर स्वरमें प्रेम-सम्बन्धी एक ग़ज़ल सुनायी । उस ग़ज़लसे सरमद इतने प्रभावित हुए कि वे अभयचंदको ईश्वरका प्रतीक मानकर उसे अत्यन्त प्यार करने लगे । अभयचंदके प्रति उनकी आसक्ति उत्तरोत्तर बढ़ती गयी और अन्तमें उन्होंने अपनी रुबाईमें यहाँतक कह दिया कि 'मुझे पता नहीं कि इस दुनियामें मेरा खुदा अभयचंद है कि कोई और ?'

इसी प्रेमोन्मादमें उन्हें त्रैलोक्यसुन्दर श्रीराम लक्ष्मणकी झाँकी मिल गयी । फिर तो वे सब कुछ भूल गये । वे प्रेमकी मदिरामें मस्त पड़े रहते थे । सरमद सिद्ध फ़क़ीर थे; अद्भुत विद्वान् एवं कवि भी थे । वे अपने पक्षके समर्थनमें जिन तर्कोंको उपस्थित करते, उसका खण्डन करना तत्कालीन विद्वानोंके लिये कठिन था । ऐसे सरमद राम-प्रेममें अपने आपको भूल गये । इसे उन्होंने स्वयं अपने मुँहसे कह भी दिया है—

> सरमद कि बकूए-इश्क़ बदनाम शुदी,
> अज़ दीने यहूद सूए इस्लाम शुदी,
> मालूम न शुद कि अज़ खुदा वो अहमद,
> बरगश्ता बसूए लछमनो-राम शुदी ।

'सरमद प्रेमकी गलीमें जाकर बदनाम हो गया । यहूदी-धर्म छोड़कर इस्लामके कूचेमें आया और फिर इस्लाम या रसूलसे मुँह मोड़कर राम-लक्ष्मणके भक्तोंमें जा मिला ।'

× × ×

भगवत्प्रेमके धनी संत सरमदसे शाहजादा दारा बड़ा प्रभावित था । वह प्रायः उनके पास जाया करता था । उनका अनन्य भक्त बन गया था । धीरे-धीरे सरमदके भक्तोंकी संख्या बढ़ती गयी और प्रायः शहरके अधिकांश लोग उनकी ओर आकृष्ट हो गये । यह देखकर सत्तालोलुप औरंगज़ेब मन-ही-मन सशङ्क था । उसने कुचक्र रचकर अपने पिता शाहजहाँको बंदी बनाया और अपने भाइयोंको क़त्ल करा दिया । दाराके गुरुतुल्य होनेके

कारण सरमद उसकी आँखमें बुरी तरह खटक रहे थे, पर उनकी अद्भुत शक्ति तथा उनकी लोकप्रियता देखकर विद्रोहके भयसे वह कुछ कर नहीं पाता था। फिर भी उन्हें शूलीपर चढ़ानेके लिये वह बहाने ढूँढ़ रहा था। आखिर एक बहाना मिल ही गया। सरमद पकड़कर लाये गये।

मुल्लाओंने मुक़दमे चलाये। "सरमद केवल 'ला इलाह' (नहीं है कोई पूज्य) कहकर रह जाते हैं, पूरा क़लमा नहीं पढ़ते। इस तरह ये रसूलका अनादर करते हैं।"

औरंगज़ेबके कहनेपर भी उन्होंने 'ला इलाह' ही पढ़ा। औरंगज़ेबने पूरा क़लमा न पढ़नेका कारण पूछा तो सरमदने उत्तर दिया—"मैं अभीतक साक्षात्कार (मर्तबए-अस्वात)से वञ्चित हूँ। अतएव यदि मैं 'ला इलाह-इलू-अल्लाह' (अल्लाहको छोड़कर कोई पूज्य नहीं) कहूँ तो वह सरासर झूठ होगा।"

'यह सरासर कुफ्र है।' मौल्वी चीख पड़े, पर प्रभु-प्रेमोन्मत्त सरमदपर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। औरंगज़ेबने उन्हें प्राण-दण्ड दे दिया।

रामप्रेमी सरमदने मुस्करा दिया। उन्हें मृत्युका क्या भय था ? उनको देखकर तो स्वयं मृत्यु कालके गालमें चली गयी। सरमदने अपने उपास्यसे कहा—

बजुर्मे इश्के तो अम् मीकुशन्द गौकापस्त,
तो नीज़ बरसरे बाम आकि ख़ुश तमाशा एस्त।

'मुझको तेरे इश्कके जुर्ममें मारा जा रहा है, जरा तू भी तो अटारीपर चढ़कर देख—कितना मजेदार तमाशा है।'

जल्लादकी तलवारके एक ही झटकेसे सरमदका सिर कटकर दूर जा गिरा। कहते हैं, सरमदने अपने जीवनमें 'ला इलाह' से अधिक क़लमा कभी नहीं पढ़ा, पर क़त्ल होते ही उनके कटे सिरसे लोगोंने 'ला इलाह-इलू-अल्लाह'का उच्च घोष तीन बार सुना। अर्थात् सरमदको अक्षय सुख-शान्ति-निकेतन प्रभुकी सत्ताका पूर्ण ज्ञान उस समय हुआ, जब उनका अस्तित्व पूर्णतया लुप्त हो गया।

रामप्रेमी सरमदके प्राणदण्डके संवादसे सम्पूर्ण दिल्ली-निवासी व्याकुल हो गये और नर-नारियोंका विशाल समुद्र लाल क़िलेकी ओर बढ़ने लगा।

एक बहनके पत्रका उत्तर

'कल्याण' की एक ग्राहिका बहनने श्रीरामाङ्क (३) में प्रकाशित मानस-सिद्धमन्त्र तथा श्रीरामरक्षास्तोत्रको सिद्ध करनेकी विधिके सम्बन्धमें यह प्रश्न किया है कि यदि उपर्युक्त मन्त्रों अथवा श्रीरामरक्षास्तोत्रको वहाँ बतायी हुई विधिके अनुसार किसी कारणवश सिद्ध करना सम्भव न हो तो प्रतिदिन नियमपूर्वक अथवा कभी-कभी पाठ करनेसे भी सिद्धि हो सकती है या नहीं। उक्त बहनने इस प्रश्नका उत्तर 'कल्याण' के द्वारा चाहा है, अतः 'कल्याण'के द्वारा ही उक्त बहनका समाधान करनेकी चेष्टा की जा रही है। सकाम अनुष्ठान जितने भी होते हैं, उनमें दो बातोंकी प्रधानरूपसे आवश्यकता होती है। पहली बात तो यह है कि अनुष्ठानकी जो विधि हमें शास्त्रसे, अपने गुरुसे, किसी महात्मासे अथवा अनुभवी जानकारसे प्राप्त हुई है, उसपर हमारा पूरा विश्वास हो कि उस विधिके अनुसार अनुष्ठान करनेपर सिद्धि अवश्य प्राप्त होगी। जिसका उस विधिपर विश्वास होगा, उस विधिका वह प्राणपणसे पालन करनेकी चेष्टा करेगा, उसके पालनमें उसके द्वारा भूल कदापि न होगी, न वह उसमें एक दिनकी भी लाँघा करेगा। दूसरी आवश्यक बात यह है कि भगवान्के जिस स्वरूपसे हम कुछ प्राप्त करना चाहते हैं, उनकी सर्वसमर्थता एवं असीम कृपापर दृढ़ विश्वास होना चाहिये। इन दोनों बातोंके होनेपर तो सिद्धि निश्चित है। दोनोंमेंसे एक भी यदि हो, तब भी सफलता अवश्य मिलनी चाहिये। प्रश्नकर्त्री बहनसे मेरी प्रार्थना है कि वे दोनोंमेंसे एक साधनको तत्परतापूर्वक अपनायें। यदि उनका विधिमें विश्वास हो तो जिस विधिमें उनका विश्वास हो, उसका पूरा-पूरा पालन करें, उसमें भरसक रञ्चमात्र भी त्रुटि न होने दें। यदि किसी निर्दिष्ट विधिका पालन करनेमें उन्हें कठिनाईका अनुभव हो तो वे विधिके पचड़ेमें न पड़ें और केवल अपने इष्टदेवको विश्वासपूर्वक पुकारें। प्रभुके सामने विश्वासपूर्वक की गयी अन्तस्तलकी पुकार कभी खाली नहीं जाती। वे दोनोंमेंसे एक मार्गको चुन लें। वैसे वे भगवान्को किसी भी प्रकारसे याद करें, उनका मङ्गल ही होगा। प्रभुस्मरण ही सारे मङ्गलोंकी खान है।

—सम्पादक

'सदाचार'का चोर

(लेखक—फादर वॉलेस)

[अनुवादक—श्रीभूदेवप्रसादजी ह. पंड्या]

कमरा खुला था, मैं जरा यों ही बाहर गया था। बाहर जाते समय ताला लगाकर जाना चाहिये, यह मैं जानता था; पर मनुष्य-जातिपर अधिक विश्वास कहा जाय अथवा कि कमरेमेंसे ले जानेलायक कुछ भी 'खास' नहीं है, इस विचारसे अथवा मात्र आलस्यके कारण उस दिन मैं कमरा यों ही खुला छोड़कर बाहर चला गया था। जब लौटा तो पाया कि आलस्यका बदला मिल चुका था। मनुष्यके सीधेपनपर विश्वास आवश्यकतासे अधिक था, यह सिद्ध हो चुका। कमरेमें वैसे कुछ भी ले जानेलायक न था। पर हाँ, मेजपर कुछ पुस्तकें अवश्य थीं, जिन्हें बेचा जाता तो पूरे दाम वसूल हो सकते थे। ये पुस्तकें गायब थीं। सहज ही जरा रोष हो आया—अपनेपर भी और चोरपर भी। चोरका मैंने क्या बिगाड़ा था? उसने मुझपर ही अपनी कुटिल विद्याका प्रयोग क्यों किया और मैं भी कैसा वज्रमूर्ख कि कमरा यों ही खुला छोड़कर चोरको अंदर आनेका निमन्त्रण देकर चल दिया था। अब किसके पास फ़रियाद की जाय। अच्छा हो, किसीसे न कहूँ! पुस्तकें नयी मँगा लूँगा। इतनी देरके पश्चात् गुस्सा कुछ कम हुआ। गुम हुई पुस्तकोंकी सूची तैयार करने लगा।

वे सब गणितकी पाठ्य-पुस्तकें थीं, एक····दो····तीन····और भी कोई? हाँ, याद आया। उनके साथ मेजपर एक दूसरी छोटी-सी पुस्तक भी थी 'सदाचार'-सम्बन्धी। वह भी गुम हो गयी थी। आनन्द आया। आक्रोशमें भी चेहरा जरा खिल उठा। 'चोर और सदाचारकी पुस्तक उठा ले जाय। यह भी हद हो गयी। बेचारा····जब जानेगा कि कैसी पुस्तक हाथ लगी····तब तो उसका चेहरा देखने लायक होगा। चूँकि उसे पुस्तकमें लिखी हुई बातोंसे क्या ताल्लुक, वह तो सिर्फ पुस्तकपर छपी हुई कीमतकी ओर देखेगा और दूकानदारसे उसकी ब्याजकी कीमत लेनेकी कोशिश करेगा। चोरके लिये पुस्तक भी माल है, पढ़नेकी वस्तु नहीं। खैर····उसकी बात वह जाने। मुझे अब नयी पुस्तकें शीघ्र लानी होंगी। और हाँ····फिरसे इस प्रकार कमरा खुला छोड़कर बाहर न जानेका व्रत लेना होगा····और उसका पालन भी करना होगा।'

× × ×

थोड़े समयके पश्चात्—शायद एक सप्ताह हुआ हो, मुझे बाहर जाना था। बाहर गया भी (कमरा खुला छोड़कर नहीं, पर व्यवस्थित बंद कर, ताला लगाकर और चाभी जेबमें डालकर····क्योंकि अब व्रत सचमुचमें चालू था।) और जब वापस आया, तब कमरेके सामने एक पार्सल दीख पड़ा। पार्सलपर कुछ भी नहीं लिखा था। पर वह मेरे कमरेके सामने रखा था। उठाया, खोला और पाया उन्हीं पुस्तकोंको, जो उस दिन गुम हो गयी थीं। एक····दो····तीन····। 'सदाचार'वाली पुस्तक न थी। उसके स्थानपर एक चिट मिली। लिखा था—"आपकी पुस्तकें मैंने ली थीं।····पैसोंकी आवश्यकता थी। साहब, इसके पहले भी मैं ऐसी हरकतें अनेक बार कर चुका हूँ। हम गरीब आदमी हैं····क्या करें····पर इस समय कुछ और ही माल मिला। रातमें आपकी पुस्तकें मेरे पास थीं। उनमेंसे एक पुस्तक कहानीकी पुस्तक लगी। रातमें उसे पढ़ने लगा। पढ़ते-पढ़ते आपकी पुस्तक-में 'चोरी'का अध्याय आँखोंके सामने आया और अपनी बुराई मैं जान सका। माफ करना, महाशय! अब जिंदगीपर्यन्त ऐसी कुचेष्टा न करूँगा। आपकी

पुस्तकें लौटा रहा हूँ, केवल वह 'सदाचार' अपने पास रखनेकी अनुमति चाहता हूँ। उसकी कीमत भी इस पार्सलमें रखे देता हूँ, आपका आभार मानता हूँ। माफ करना, साहब! ......एक भूले-भटके नवयुवकका नमस्कार।"

मैंने पत्र फिरसे पढ़ा, धीरे-धीरे पढ़ा। शान्तिसे पुस्तकें फिरसे गिन लीं। उस भटके हुए नवयुवकका चेहरा नहीं, पर हृदय मेरे मानस-चक्षुओंके सामने तैरने लगा। चोरके हृदयमें कितनी सज्जनता! भूले-भटकेके मनमें कितना विवेक! और मैंने तो अभी धर्मगुरुकी अदासे कहा था कि 'मनुष्य-जातिकी भलमनसाहतपर मेरा विश्वास आवश्यकतासे अधिक था।' अरे, शर्म आती है। अधिक नहीं, कम था। उसने मुझसे माफी माँगी थी। परंतु वास्तवमें मुझे उससे माफी माँगनी चाहिये। मैंने परोक्षरूपसे—मानसिक रूपसे उसकी निन्दा की थी, इसलिये। पर मेरे पास उसका पता कहाँ है कि उसके पास जाकर माफी माँगूँ और अपने पापी दिलका समाधान करूँ।

× × ×

दूसरी एक बड़ी बात मैं उस दिन समझ सका। उन गणितकी पाठ्य-पुस्तकोंका लेखक मैं ही हूँ और वह सदाचारवाली पुस्तक भी मैंने ही लिखी थी। पर दोनोंका अन्तर अब मालूम हुआ। यदि मात्र मैंने गणितकी ही पुस्तकें लिखी होतीं तो वे जानेके पश्चात् वापस नहीं आतीं और चोर चोर ही रह जाता। गलत मार्गपर चलनेवाला युवक गलत मार्गपर ही रहता। परंतु उन पुस्तकोंके साथ सदाचारका बोध भी था। इसलिये एक (उसके समान वैसे कितने ही नवयुवक होंगे, ईश्वर जाने) युवकके जीवनमें नये सूर्यका उदय हुआ। उसके हाथ मात्र गणितकी ही पुस्तकें लगतीं, तो उसे केवल थोड़े पैसे ही मिले होते। (और वे भी हरामके।) पर उसके हाथमें सदाचारकी पुस्तक आयी थी। इसलिये उसे नवजीवन मिला।

उन गणितकी पाठ्य-पुस्तकोंको लेकर अनेक विद्यार्थी परीक्षाओंमें पास हुए होंगे और प्रथम श्रेणी भी प्राप्त कर सके होंगे, इसका संतोष तो है; पर बहुत गहरा संतोष न था। पाठ्य-पुस्तकोंका टोटा कहाँ है अपने यहाँ? दूसरे लेखकोंकी भी खरीदी जा सकती हैं और उनके मार्गदर्शनसे अच्छे अङ्क प्राप्त किये जा सकते हैं। और परीक्षा पास करना ऐसा कौन-सा बड़ा पराक्रम है कि उसकी प्राप्तिसे इतनी धन्यताका अनुभव हो। परंतु दूसरी ऐसी ही छोटी-सी और सस्ती सदाचारवाली, जीवन-निर्माणसम्बन्धी, नीति-धर्मवाली पुस्तकें वैसे युवकोंको दूसरी एक बड़ी परीक्षामें सफलता प्राप्त करनेमें मददगार हो सकीं, यह जानकर गहरा आत्मसंतोष हुआ....और उन पुस्तकोंको लिखनेका श्रम एकदम वसूल जान पड़ा। वह युवक कौन है, ऐसे युवक कितने हैं—इसके आँकड़े मेरे पास नहीं हैं। इन जीवन-परीक्षामें पास होनेवाले नवयुवकोंके नाम और फोटो समाचार-पत्रोंमें नहीं छपते और विश्वविद्यालयके नोटिस-बोर्डपर नहीं लगते। पर उस भटके हुए गुमराह युवक-जैसे युवकोंके स्नेह-सिञ्चित पत्र, उनकी मूक संवेदनाएँ, उनकी हँसती आँखें हृदयको सच्ची धन्यताका अनुभव कराती हैं। पाठ्य-पुस्तकोंकी स्थूल रायल्टी प्रकाशकके हस्ताक्षरवाले चेकके रूपमें आती है, परंतु इन जीवन-पुस्तकोंका चक्रवृद्धिब्याज असंख्य युवकोंके उत्साह, पवित्रता और पुनर्जीवनके रूपमें हमेशा मिलता है।

उन तीन चोरी गयी गणितकी पुस्तकोंकी वापसीपर सहज आनन्द हुआ, पर उनके साथ गुमशुदा 'सदाचार'की वापसी न होनेसे विशेष आनन्द हुआ, जिसे उसकी खास आवश्यकता थी और जिसके हाथोंमें वह सामान्य मार्गसे नहीं पहुँच सकती थी। उस युवकके

हाथमें गयी और वहाँसे वह दूसरोंके हाथमें भी जायगी, यह कितने संतोषकी बात है। इस प्रकार पुस्तकें जायँ ....दूर-दूर जायँ....आशीर्वाद लेकर जायँ और कहीं-कहीं प्रेरणा-बीज डालती जायँ और उनसे सदाचारके फल निकलें, इससे अधिक लेखकको क्या चाहिये ?

प्रकाशक और गणित-प्रेमी जब फरियाद करते हैं और पाठ्य-पुस्तकोंके लिये तकाजा करते हैं, तब मैं हँस पड़ता हूँ और उन्हें समझाता हूँ कि यह सब तो होगा ही, पर पहला नंबर तो इस सदाचारकी पुस्तकका ही रहेगा। दूसरा चोर आये और एक हाथ आजमाये।

इस प्रकार इस छोटे-से प्रसङ्गसे मैं खूब सीख सका हूँ। मनुष्यके लिये क्या मापदण्ड है और काम तथा समयके बँटवारेमें किसे अधिक महत्त्व दिया जाय, इस बारेमें थोड़ा निर्णय भी कर लिया।

पर एक समस्या अब भी है ? बाहर जानेपर कमरेको ताला लगाऊँ या खुला छोड़ दूँ ?

संस्कृतका अध्ययन भारतीयोंके लिये अनिवार्य

(लेखक—डा० सुवालाल उपाध्याय 'शुकरत्न', एम्० ए०, पी-एच्० डी०,)

संस्कृत इस देशका शक्ति-स्रोत, जन-भावनाके उदात्तीकरणकी गङ्गा, राष्ट्रीय ज्ञानकी कुंजी, राष्ट्रैक्यका सनातन सूत्र और समस्त भारतीय जातिका जीवन-सर्वस्व है। भारत एवं संस्कृत परस्पर अभिन्न हैं। इसको जाने बिना भारतके व्यक्तित्व, आत्मा और हृदयको समझना कठिन है। सच पूछा जाय तो संस्कृतके बिना भारत और भारतीय जीवनकी कल्पना ही नहीं की जा सकती। श्रीविवेकानन्दके शब्दोंमें 'संस्कृत-शब्दोंकी ध्वनिमात्रसे इस जातिको शक्ति, बल और प्रतिष्ठा प्राप्त होती है।'

यद्यपि 'संस्कृत' शब्दका प्रयोग भाषाविशेषमात्रके लिये होता है, तथापि 'संस्कृत' शब्दके सुननेमात्रसे वैदिक ऋषियोंके मन्त्र-दर्शन, योगियों और तत्त्वज्ञोंकी तत्त्व-चर्चा, पुराणोंके सृष्टिसम्बन्धित रहस्य, कपिल, कणाद और गौतम आदिके दार्शनिक विवेचन, पाणिनि-पतञ्जलि आदिके भाषा-सम्बन्धी अद्भुत विचार, चरक, सुश्रुत, कौटल्य एवं आर्यभट्ट आदिके विविध विषयोंके तलस्पर्शी विश्लेषण, कालिदास, जयदेव, श्रीहर्ष आदि महाकवियोंके सुललित काव्यों और वास्तु, शिल्प, चित्र, संगीत आदि विविध कलाओंसे लेकर धार्मिक अनुष्ठानों, साधनाओं और लोक-व्यवहारोंका एक साथ बोध हो जाता है। भारतीय मनीषाका उच्चतम विकास संस्कृतमें ही हुआ है। महायोगी अरविन्दके अनुसार 'संस्कृत-भाषाकी प्राचीन एवं उच्चकोटिकी रचनाएँ अपने गुण तथा उत्कर्षके स्वरूप एवं बाहुल्य दोनोंमें, शक्तिशाली मौलिकता, ओजस्विता और सुन्दरतामें, अपने सारतत्त्व, कौशल और गठनमें, वाक्शक्तिके वैभव, औचित्य और आकर्षणमें तथा अपनी भावनाके क्षेत्रकी उच्चता और विशालतामें अत्यन्त स्पष्टतः ही विश्वके महान् साहित्योंके बीच अग्रपङ्क्तिमें प्रतिष्ठित हैं।'

इस विशाल देशका प्रत्येक व्यक्ति संस्कृतसे जुड़ा हुआ है। सूर्यके आलोक और चन्द्रमाकी चाँदनीकी भाँति यह सम्पूर्ण भारतीय जीवनमें व्याप्त है। भारतकी समग्र प्रकृति और सामूहिक चेतनापर इसका अद्भुत साम्राज्य है। हजारों वर्षोंकी चिरंतन साधनाका सर्वोत्कृष्ट सार, भारत राष्ट्रकी सारी तपश्चर्या, उसका सत्य दर्शन, उसका गौरव, साहित्यिक सांस्कृतिक-धार्मिक-राजनीतिक जीवन इसीके अगाध वाङ्मयमें व्याख्यात हुआ है। फलतः भारतवर्षका कुछ भी ऐसा नहीं, जो इस भाषाको जाने बिना समझा जा सके। अतः जो संस्कृत नहीं जानता, उसे भारतीय प्रतिनिधिके रूपमें स्वयंको प्रस्तुत करनेमें कठिनाई होगी। महात्मा गांधीके शब्दोंमें 'संस्कृत-ज्ञानके बिना हिंदू तो असंस्कृत ही है।' निष्कर्षतः कोई भी भारतवासी—चाहे वह हिंदू, मुसल्मान, ईसाई पारसी, कोई भी क्यों न हो, यदि वह भारतराष्ट्रके इतिहास, जीवनादर्श, परम्परा और महान् संस्कृतिका ज्ञान प्राप्त करा चाहता है, संस्कृत-ज्ञानकी उपेक्षा नहीं कर सकता। स्वतन्त्र भारतके 'स्व'का साक्षात्कार सर्वोत्तम रीतिसे संस्कृत-ज्ञानके द्वारा ही हो सकता है।

संस्कृत उस मानसिक साहस, राष्ट्रीय चेतना और

राष्ट्रीय स्वाभिमानकी जन्मदात्री है, जिसे कुछ स्वार्थी तत्त्वोंने अंग्रेजीके कठोर लौहपाशमें जकड़ रखा है। संस्कृतका अध्ययन स्वतन्त्र चिन्तनको जन्म देता है और देश-गौरवकी भावना उत्पन्न करता है। संस्कृत तथा उसके द्वारा पोषित हिंदी आदि अन्य भारतीय भाषाओंके साथ देशभक्ति, आत्मगौरव, राष्ट्रीय समृद्धि और भारतीयता हैं, जब कि अंग्रेजीके साथ हैं अंग्रेजियत, मानसिक गुलामी तथा स्वतन्त्र एवं मौलिक चिन्तनका सर्वथा विनाश। यदि भारतीय संस्कृतिमेंसे वे तत्त्व निकाल दिये जायँ, जिनका जन्म संस्कृतसे हुआ है, तो भारतीय संस्कृति नामकी कोई भी वस्तु शेष नहीं बचेगी। अतः यदि राष्ट्रीय पाठ्यक्रममें संस्कृतको उचित स्थान नहीं दिया गया, तो देशकी समृद्ध संस्कृतिके नष्ट हो जानेका खतरा है।

वेद, उपनिषद्, मनु, वाल्मीकि, व्यास, कालिदास अभीतक हमारे जीवनपर शासन कर रहे हैं। हमारे जीवनका जो कुछ भी सारभूत है, जिन आदर्श गुणोंसे भारतीय जीवन प्रगुणित है, वे सब संस्कृत भाषामें ही प्रत्यक्ष किये जा सकते हैं। संस्कृतने इस देशको एक उत्कृष्ट जीवन-दर्शन और भव्य समृद्धिका युग प्रदान किया है और भारतीय जीवनादर्शोंको बदलते जीवन-मूल्योंमें निरन्तर निश्चित मानकी ओर लौटाया है। संस्कृत-साहित्यसे दूर हटकर भारतका सांस्कृतिक ह्रास ही नहीं होगा, बल्कि उसकी प्राणशक्ति समाप्त हो जायगी। इसका आश्रय लिये बिना भारतकी आत्मा कभी भी तृप्त नहीं हो सकती। यहाँ श्रीनेहरूका यह कथन ध्यान देनेयोग्य है—"संसारके किसी भी देशकी शायद ही किसी भाषाने उस राष्ट्रके इतिहासको इतना अधिक प्रभावित किया हो, जितना संस्कृतने किया है। यह केवल सर्वोत्कृष्ट विचार और सुन्दरतम साहित्यका माध्यम ही नहीं, वरन् भारतको एक सूत्रमें बाँधनेका तत्त्व भी है... मुझे ताज्जुब होता है कि यदि हमारा राष्ट्र उपनिषद्, गीता और रामायण तथा महाभारतको भूल जाय तो यह किस प्रकारका होगा ... यह राष्ट्र निर्मूल हो जायगा और इसकी आधारभूत विशेषताएँ ही समाप्त हो जायँगी। तब भारत 'भारत' नहीं रह जायगा।"

भारतीयोंका सारा जीवन ही संस्कृतमय है। प्रत्येक भारतीयके रात-दिनके व्यवहारमें आधेसे अधिक शब्द संस्कृतके ही रहते हैं। प्रातःकालकी अरुणिम सुषमाके फैलते ही द्वारकासे लेकर जगन्नाथपुरीतक एवं बदरीनाथसे लेकर रामेश्वरम्तक, कोटि-कोटि कण्ठोंसे संस्कृत-स्तोत्रोंकी मधुरतासे पूर्ण प्रभु-अर्चनाके एक-जैसे ही स्वर गूँज उठते हैं। हिमाचलप्रदेश और केरलमें उत्पन्न हुए बालकके जातकर्म, नामकरण एवं उपनयन वहाँकी मातृभाषा किंवा प्रादेशिक भाषामें नहीं होते। गुजरात और बंगालके विवाह-संस्कार गुजराती एवं बँगला भाषामें नहीं किये जाते। पंजाब एवं आन्ध्रके शव-संस्कारके समय उन प्रान्तोंकी भाषाका प्रयोग नहीं होता। इस प्रकार समस्त भारतीय स्पन्दनोंमें अच्छेद्य-अभेद्य सम्बन्धसे घुली-मिली संस्कृत-भाषाके साथ भारतीयोंका वैयक्तिक, कौटुम्बिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय जीवन सर्वथा निबद्ध है। उनको संस्कृतका महत्त्व समझाना उसी प्रकारकी एक हास्यास्पद तथा अशोभनीय कल्पना है, जैसे किसी पुत्रको उसकी माताका महत्त्व समझाना।

इस प्रकार हम भारतीय एक दूसरेसे हजारों मील दूर रहते हुए भी, संस्कृत-सूत्रसे मणिमालाकी तरह परस्पर गुँथे हुए हैं। संस्कृत-भाषा विभिन्न विचार और विश्वासोंके बीच समन्वयात्मक परिस्थितियोंको उत्पन्न करती हुई, देश और समाजमें हमारी अनुभूतियों, आवश्यकताओं और मनोवेगोंमें अन्तःसंवेदनशीलताको स्थापित करती है, जिसके कारण कार्य और विचारोंमें बाहरी भिन्नता होते हुए भी नागरिकोंके चित्तमें भावनात्मक ऐक्य सुस्थिर रहता है। संस्कृतके माध्यमसे देशमें जैसी एकता स्थापित हुई है, वह किसी अन्य माध्यमद्वारा सम्पन्न नहीं हुई। विदेशियोंके सुदीर्घ शासन-कालमें भी यह सांस्कृतिक ऐक्य सुरक्षित बना रहा, असहिष्णु शासकोंके दुर्धर्ष अत्याचार भी संस्कृतके ही कारण भारतीय जनताकी आत्माको नहीं कुचल सके। संस्कृतके ही कारण हम आजतक अपने व्यक्तित्व और विशेषताओंके साथ जीवित हैं। अतः केवल भाषाकी दृष्टिसे ही नहीं, बल्कि राष्ट्रके अस्तित्वके लिये भी संस्कृतका संरक्षण अत्यावश्यक है।

संस्कृतके अध्ययनका तात्पर्य है—उन सभी मान्यताओंको स्वीकार करना, जो मनुष्यको पूर्णतम और न्यायसिद्ध जीवन प्रदान करती हैं। यदि हम मनुष्यको जानना चाहते हैं, जो केवल दर्शन-शास्त्रका ही नहीं, प्रत्युत ज्ञानमात्रका उद्देश्य है, तो संस्कृत-साहित्यका अध्ययन आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है। संस्कृत-साहित्यमें मानव-जीवनके उन स्थायी तत्त्वोंका विवेचन है, जिनको आधार बनाकर सभ्यता और

संस्कृतिका निर्माण होता है, मानव-जातिके इतिहास और परम्पराओंकी स्थापना होती है । फलतः मनुष्यत्वकी पूर्णताके लिये संस्कृतका अध्ययन उसी प्रकार आवश्यक है, जैसे आज टैक्नॉलॉजी और विज्ञानके निःशेष रहस्योंको जाननेके लिये विदेशी भाषाओंका ज्ञान ।

गणित और चिकित्सा, शिल्प और तर्क, विधि और कूटनीतिके क्षेत्रमें भी संस्कृत-भाषाके माध्यमसे कभी भारत इतनी उन्नति कर चुका था कि इनमेंसे उनके कुछ आविष्कारोंने अरबोंके माध्यमसे योरपमें पुनर्जागरणके बीज डाले । विश्वके दर्शन और संस्कृतिमें हमारा योगदान इसीके द्वारा हुआ है । किसी समय इसकी ज्योतिने सारी दुनियाको प्रकाश दिया था—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥
(मनुस्मृति २ । २०)

सृष्टि और मनुष्यजातिका सुदीर्घ इतिहास भी संस्कृतमें ही सुरक्षित है । समस्त संसारमें आध्यात्मिक विचारोंका चरम उत्कर्ष केवल संस्कृतमें ही प्राप्त किया जा सकता है । आध्यात्मिक अनुभवोंसे सम्बन्धित संस्कृत शब्दोंके पर्यायवाची शब्द संसारकी किसी भी भाषामें प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है । इसके अध्यात्मग्रन्थोंने सदैव विश्वके मनीषियोंको आकृष्ट और प्रभावित किया है । वैदिक परिभाषाओं, प्राकृतिक रहस्यात्मक वर्णनों एवं सूर्य, चन्द्र, हरीतकी आदिके विविध पर्यायवाची शब्दोंसे वैज्ञानिक भी अपने अनुसंधानमें कुछ दुर्लभ संकेत प्राप्त कर सकते हैं ।

संस्कृत-भागीरथीका अखण्ड प्रवाह पाली, प्राकृत, अपभ्रंशसे होता हुआ आजतक समस्त भारतीय भाषाओंमें बह रहा है । भारतीय भाषाओंमें संस्कृतकी ही अन्तःप्रेरणा व्याप्त है । आज भी उनका पोषण और संवर्धन संस्कृतद्वारा ही होता है । इन भाषाओंका शब्दकोश, साहित्यस्वरूप, कल्पना, पारिभाषिक वाक्य, अलंकारशास्त्र आदि संस्कृतपर ही आधारित हैं । यही कारण है कि संस्कृतकी सहायतासे कोई भी उत्तरभारतीय तेलुगु, कन्नड़, मळयालम, उड़िया आदि भाषाओंको सरलतापूर्वक सीख सकता है । इसी प्रकार दक्षिण और पूर्वोत्तर भारतकी हिंदी आदि भाषाओंको सीख सकता है । संस्कृतके अध्ययनसे सभी भारतीय भाषाएँ एक-दूसरेके साथ जुड़ी हुई हैं । संस्कृतकी पृष्ठभूमि और शाश्वती जीवन-धाराको छोड़कर कोई भी भारतीय भाषा हमारी सांस्कृतिक एकताकी सुरक्षा और भारतको भारतके रूपमें स्थिरता प्रदान करनेमें समर्थ नहीं है । संस्कृतके आश्रयके बिना हिंदी भी अपनी सार्वदेशिक राष्ट्रीय संवेदना समाप्त कर देगी ।

भारतीय भाषाओंके कम्बन्, ज्ञानेश्वर, चण्डीदास, विद्यापति, सूरदास, तुलसीदास, तिरुवल्लुवर, पुरंदरदास, कनकदास, रवीन्द्र आदि कवि और लेखकोंने सर्वोच्चरूपमें संस्कृतसे प्राप्त ज्ञान-परम्पराद्वारा अपनी कृतियोंको सजाया है । आधुनिक नवजागरण-कालमें भी संस्कृत-ज्ञानसे आलोकित दयानन्द, विवेकानन्द, तिलक, मालवीय, गांधी आदि महापुरुषोंके योगदानको कौन नहीं जानता ।

केवल मनुष्य ही नहीं, प्राणीमात्रमें एक ही चैतन्य सत्ताका अनुभव करनेवाला संस्कृत-दर्शन ही अपने भद्रभाव और उज्ज्वल उपदेशसे इस द्रोह-संकुल जगत्को परस्पर सहयोग, विश्वबन्धुता और शान्ति-साम्राज्यकी ओर उन्मुख कर सकता है । संस्कृत-साहित्यके द्वारा प्रदत्त सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य, भक्ति, ज्ञान, सदाचार, विश्वमैत्री आदि अगणित शब्द और सद्गुणोंसे भरे शिक्षणके प्रचारके बिना इस युगमें मानवीय मूल्योंकी सुरक्षा कठिन होगी । 'मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे' । 'वसुधैव कुटुम्बकम्' आदि सद्विचार 'संयुक्त-राष्ट्र-संघ'के सिद्धान्तोंके प्रसारमें भी योगदान कर सकते हैं । ध्वंसोन्मुख विज्ञानको शुभकी ओर प्रेरित करनेके लिये भी संस्कृतके अध्यात्म-ज्ञानका अङ्कुश मङ्गलमय होगा । संस्कृत-ज्ञानसे प्रभावित विलियम थियॉडोरने इस ओर संकेत किया है—'वैज्ञानिक साधनोंसे संसारकी एकता अवश्य बढ़ रही है । किंतु संस्कृत-ज्ञानके बिना यह चिरकालतक नहीं ठहर सकती । भारत तथा संसारका उद्धार और सुरक्षा संस्कृत-ज्ञानके द्वारा ही सम्भव है ।'

वोटोंकी राजनीतिसे ऊपर उठकर साम्प्रदायिक सद्भावके लिये भी सर्वत्र एक ही परमात्म-तत्त्वको खोजनेवाले संस्कृत-तत्त्व-दर्शनका प्रचार अत्यन्त संतोषप्रद परिणाम उत्पन्न कर सकता है । वेदोंसे लेकर समूची संस्कृत-परम्परा परमात्माकी एकताका समर्थन कर रही है—

'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' (ऋग्वेद)

'माहाभाग्याद्देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते।'

(निरुक्त, दैव० ७ । १ । ५)

'यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।'

(गीता ६।३०)

बहुधाप्यागमैर्भिन्नाः पन्थानः सिद्धिहेतवः ।
त्वय्येव निपतन्त्योघा जाह्नवीया इवार्णवे ॥

(रघुवंश १० । २६)

संस्कृत-साहित्य और दर्शनका अध्ययन मनुष्यको गम्भीर आनन्द और सूक्ष्म विचार-शक्ति प्रदान करता है। संस्कृतके अध्ययनसे मैत्री, करुणा, मृदुता, प्रियवादिता, कृतज्ञता, अनसूया आदि आत्मगुण तथा नैतिकता, परोपकारिता आदि सामाजिक गुण विकसित होते हैं और राष्ट्रीय चरित्र उत्कृष्ट बनता है। सच पूछा जाय तो संस्कृतमें मनुष्यको देवता बनानेकी सामर्थ्य है। अतः घृणा, स्वार्थ, भ्रष्टाचार, असहिष्णुता, धर्मान्धता, अनुशासनहीनता आदिसे भी मुक्तिके लिये संस्कृतका प्रचार अति सहायक होगा। संस्कृतके प्रभावसे भारतीय किसानका जीवन भी आधुनिक नेताओंकी अपेक्षा अधिक पवित्र और न्यायपूर्ण है। वैदेशिक विचार-धाराओंके बढ़ते हुए दुष्प्रभावको भी संस्कृत-भाषाके अध्ययनका प्रचार पर्याप्त जर्जरित और निस्तेज करेगा।

'केवलाघो भवति केवलादी'

(ऋग्वेद १० । ११७ । ६)

'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्।'

(ईशा० १)

यावद् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्।
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति॥

(श्रीमद्भा० ७ । १४ । ९)

—आदि सद्भावपुष्ट दुर्लभ सामाजिक आदर्श भी संस्कृत-साहित्यमें विद्यमान हैं, जो हिंसा और वर्ग-संघर्षके समर्थक समाजवादके अनुयायियोंको हृदय-परिवर्तन और शान्तिके साथ क्रान्तिकारी परिवर्तनोंका राजपथ दिखा सकते हैं।

इस प्रकार जीवनके विविध क्षेत्रोंमें आज भी संस्कृतसे कुछ अपूर्व लाभ प्राप्त किया जा सकता है। भारतकी इस अक्षय निधिके शोध और अन्वेषणमें विदेशी विद्वान् अपना समग्र जीवन अर्पित कर दें और हम अपनी ही धरोहरका सही मूल्याङ्कन नहीं कर पायें, इससे बढ़कर और हमारा दुर्भाग्य क्या होगा। संस्कृत-साहित्यमें इतना ज्ञान भरा हुआ है कि यदि उसका सही मूल्याङ्कन करके संसारके सामने लाया जाय तो इस राष्ट्रको एक नया गौरव मिल सकता है। उसकी उपेक्षा करनेवाले यह भूल जाते हैं कि इस सर्वभाषाओंकी जननीने हमारे जीवनको कितना प्रभावित किया है।

फलतः इस आर्थिक और औद्योगिक युगमें भी राष्ट्रीय मौलिक प्रकृति और प्रवृत्तिके संरक्षण, राष्ट्रीय एकताकी सिद्धि, भारतीय संस्कृतिकी सुरक्षा, आर्य-भाषाओं एवं राष्ट्रभाषा हिंदीके पोषण तथा संवर्धन, सद्-विचार और सद्भावनाओंके प्रसार, अनुशासनहीनताकी समस्याके समाधान, चरित्रवान् नागरिक एवं नेताओंके निर्माण, स्वतन्त्र चिन्तनकी प्रेरणा तथा विश्वशान्ति एवं विश्व-मैत्रीके सद्-उद्देश्योंकी जन-मानसमें प्रतिष्ठाके लिये संस्कृतके पठन-पाठनका राष्ट्रव्यापी प्रचार वाञ्छनीय है।

'हमारी सभी भाषाएँ, चाहे वह तमिळ हो या बँगला, मराठी हो या पंजाबी—हमारी राष्ट्र-भाषाएँ हैं। वे सभी भाषाएँ और उपभाषाएँ अनेकों खिले हुए पुष्पोंके समान हैं, जिनसे हमारी राष्ट्रीय संस्कृतिकी सुरभि प्रसारित होती है। इन सभीके लिये प्रेरणाका स्रोत भाषाओंकी रानी देववाणी संस्कृत रही है। अपने विभव एवं पावन साहचर्यके कारण केवल वही हमारे राष्ट्रीय पारस्परिक व्यवहारके लिये एक सर्वमान्य माध्यमके रूपमें कार्य कर सकती है। संस्कृतका कामचलाऊ ज्ञान प्राप्त करना कुछ कठिन भी नहीं है। अभी भी संस्कृत हमारी राष्ट्रीय एकताके लिये एक महान् संयोजक सूत्र है।'

—माधवराव सदाशिवराव गोल्वलकर

'संस्कृत संसारभरकी भाषाओंमें प्राचीनतम और समृद्धतम है। संस्कृत हमारे राष्ट्रीय गौरवका प्रतीक है। साथ ही भारतकी विभिन्न भाषाओंमें भावनात्मक एकताका एक समर्थ माध्यम है।'

—हनुमानप्रसाद पोद्दार

श्रीराधामाधव-प्रेम-माधुरी

श्रीराधामाधव-प्रेम-माधुरी अलौकिक एवं अचिन्त्य है। भक्तोंने अपनी भावनासे उसके विभिन्न मधुर रूपोंमें दर्शन किये हैं। नीचे हम भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारद्वारा विरचित चार पद अर्थसहित दे रहे हैं। दो पदोंमें श्रीकृष्ण राधाको अपनी प्रेमास्पदा मानकर उन्हें प्रेमकी स्वामिनी और अपनेको प्रेमका कंगाल स्वीकार करते हैं तथा दो पदोंमें श्रीराधा अपनेको अत्यन्त दीना और श्रीकृष्णको प्रेमके धनीरूपमें स्वीकार करती हैं। इन पदोंमें प्रेमिगत दैन्य और प्रेमास्पदकी महत्ता देखनेयोग्य है।

श्रीराधाके प्रेमोद्‌गार—श्रीकृष्णके प्रति

(लावनी तर्ज—ताल कहरवा)

प्रियतम ! तव रूप-सुधा-रस-माधुरि प्यारी।
मो दृग सौं छिनहूँ नायँ टरति है टारी॥ टेक॥

नव-जलद-नील तनु स्याम नयन-मन-मोहन।
मुख सरद-इंदु-सम पूर्न प्रभामय सोहन॥
वनमाला गल अति सुरभित नित मन मोहै।
सिखि-पिच्छ-सुसोभित अलकनि की छवि सोहै॥
बाँकी भौंहैं, तिरछी चितवन अनियारी॥ मो दृग०

हौं कुमुदिनि तव मुखचंद विना नहिं विलसति।
हौं चारु चकोरी नित दरसन हित तरसति॥
वस, मिलौ तुरत तुम, करौ न पलभर देरी।
मैं हौं अनन्य तव चरन-जुगल की चेरी॥
तुम विनु नहिं छिन भर चैन, विथा हिय भारी॥ मो दृग०

मन ऐसी आवै, नित्य रहौं तुम सौं जुत।
छिनहूँ नहिं तुम कूँ जान दऊँ मैं इत-उत॥
राखूँ उर-मंदिर बाँधि प्रेम की डोरी।
खेलूँ प्रिय ! तुम सँग सदा रंग-रस-होरी॥
तुम वनौ नित्य मम हृदय-सरोज-विहारी॥ मो दृग०

तुम बने रहो हरि ! हार गलेका सोभन।
नित प्रेमरसास्वादनका बढ़े प्रलोभन॥
तुम-हम, वस, दो ही रहें, न कोई दूजा।
मैं करती रहूँ प्रानधन ! नित रस-पूजा॥
त्रुटि भर न तुम्हें मैं बिलग करूँ, हियहारी॥ मो दृग०

मम मुख-पंकज के मधुकर मधुर पियारे।
तुम प्रान-प्रान, मेरे नैनों के तारे॥
छूटै अग-जग की सुरति देखि तव मूरति।
मुक्ती न पाय मोकूँ नित रहै विसूरति॥
तुममें मैं घुल-मिल जाऊँ, रहूँ न न्यारी॥ मो दृग०

हे प्रियतम ! तुम्हारी प्रिय सौन्दर्यामृत-रसकी मधुरिमा मेरे नेत्रोंसे एक क्षणके लिये हटानेपर भी नहीं हटती।

तुम्हारा नवीन जलयुक्त मेघके वर्णका नील-श्याम कलेवर नेत्रों तथा मनको मुग्ध कर देनेवाला है। तुम्हारा मुख शारदीय पूर्ण शशिके सदृश आभायुक्त एवं सुहावना है। तुम्हारे ग्रीवाप्रदेशमें अत्यन्त सुगन्धित वन-पुष्पोंकी माला सदैव चित्तको चुराती है। तुम्हारी मयूरपंखसे सुसज्जित अलकावलिकी शोभा अत्यन्त सुहावनी है। तुम्हारी टेढ़ी भौंहें हैं, तीखे कटाक्ष हृदयमें चुभ जानेवाले हैं। यह सौन्दर्य मेरे नेत्रोंसे एक क्षणके लिये हटानेपर भी नहीं हटता।

हे प्रियतम ! तुम्हारे मुखचन्द्रके दर्शन बिना मैं कुमुदिनी प्रफुल्लित नहीं हो सकती। तुम्हारे दर्शनके लिये मैं सुन्दर चकोरी सदा तरसती रहती हूँ। अब तुमसे मेरी तो यही प्रार्थना है कि तुम तुरंत आकर मुझसे मिल जाओ, एक पलका भी विलम्ब न करो। मैं तो तुम्हारे युगलचरणोंकी अनन्य दासी हूँ। मुझे तुम्हारे बिना क्षणभर भी चैन नहीं है, हृदयमें भीषण व्यथा हो रही है। मेरे नेत्रोंसे तुम्हारे सौन्दर्यकी मधुरिमा क्षणभरके लिये भी टाले नहीं टलती।

मेरे मनमें ऐसी इच्छा होती है कि मैं तुमसे नित्य जुड़ी रहूँ, क्षणभरके लिये भी तुम्हें मैं इधर-उधर नहीं जाने दूँ। प्रेमकी रज्जुसे बाँधकर तुम्हें अपने हृदय-मन्दिरमें बसा लूँ। हे प्रियतम ! सदा ही तुम्हारे संग रसरङ्गमयी होली खेला करूँ ! तुम मेरे हृदय-कमलमें नित्य विहार करनेवाले बन जाओ। हे प्रियतम ! तुम्हारी सौन्दर्य-माधुरी मेरे नेत्रोंसे क्षणभर भी हटाये नहीं हटती।

हे हरि ! तुम मेरे गलेका सुहावना कण्ठहार बने रहो। तुम्हारे प्रेमरसके आस्वादनका लोभ मेरे अंदर बढ़ता ही रहे। बस, तुम और मैं दो ही रहें, कोई अन्य न हो। हे प्राणधन ! मैं नित्य तुम्हारी रसमयी पूजा करती रहूँ। हे मेरे चित्तचोर ! मैं तुम्हें त्रुटिभरके लिये भी पृथक् नहीं करूँ। मेरे नेत्रोंसे तुम्हारी रूप-माधुरी क्षणभरके लिये भी हटाये नहीं हटती।

हे मेरे मुख-कमलके मधुर प्यारे भ्रमर ! तुम मेरे प्राणोंके प्राण तथा आँखोंकी पुतली हो। तुम्हारे मुख-दर्शनसे इस जड-चेतनात्मक प्रपञ्चकी स्मृतिका लोप हो जाय। स्वयं मुक्ति मुझे न पाकर नित्य विलखती रहती है। मेरी तो यही अभिलाषा है कि मैं तुममें घुल-मिल जाऊँ, पृथक् न रहूँ। मेरे नयनोंसे तुम्हारे सौन्दर्यकी मधुरता एक पलभरके लिये भी हटाये नहीं हटती।

श्रीकृष्णके प्रेमोद्गार—श्रीराधाके प्रति

(राग भीमपलासी—ताल कहरवा)

सुन्दर-मधुर सदा मैं मुनि-मनको भी करता आकर्षण।
ऋषि-मुनि, मनुज-दनुज-सुर—सबपर करता सदा सुधावर्षण॥
वह मैं खिंचा नित्य रहता तव मुख-शशि-सुधा-पानके हेतु।
ललचाता, मैं सदा तरसता, करता भङ्ग स्वयं श्रुति-सेतु॥
जिसके गुण-गण गाते नहीं अघाते अज-भव-शारद-शेष।
वही समुद करता गुण-गान तुम्हारा मैं साग्रह सविशेष॥
जिसकी महिमाका न पा सका अवतक कोई कहीं न अन्त।
वही तुम्हारी महिमाको अनुभव करता अज्ञात, अनन्त॥

जो सब लोक-महेश्वर, अतुलैश्वर्य, विश्व-भर्ता-धर्ता ।
वह मैं तव पद-सेवन-रत सुख-गौरवका अनुभव करता ॥
नित्य सच्चिदानन्दरूपकी भी वे वाञ्छित भाव-तरंग ।
लहरातीं जब मुझे दीखतीं अति शुचि, पुलकित होते अङ्ग ॥
बह जाता मैं उनमें, प्यारी ! रहता नहीं भिन्न कुछ तत्त्व ।
कौन बता सकता कैसा, क्या अतुल तुम्हारा मर्म महत्त्व ॥

हे प्रिये राधिके ! मैं अपने सौन्दर्य-माधुर्यसे सदा मुनियोंके मनको भी आकर्षित करता रहता हूँ। ऋषियों, मुनियों, मानवों, दानवों तथा देवताओं—समीपर मैं सदैव अमृतवर्षण करता रहता हूँ । वही मैं तुम्हारे मुखचन्द्रके अमृत-पानहेतु नित्य खिंचा रहता हूँ, सदा ललचाता, सदा तरसता रहता हूँ तथा स्वयं ही वेदकी मर्यादाके सेतुका उल्लङ्घन कर देता हूँ । जिसके गुणगणोंका गान करते-करते ब्रह्मा, शंकर, सरस्वती एवं शेष भी अघाते नहीं, वही मैं विशेषरूपमें तुम्हारा गुणगान आग्रहपूर्वक प्रसन्न मनसे करता रहता हूँ । जिसकी महिमाका अबतक कोई भी कहीं भी अन्त नहीं पा सका, वही मैं अनुभव करता हूँ कि तुम्हारी महिमा मेरे लिये अज्ञात एवं अनन्त है । जो मैं सर्वलोकमहेश्वर, अतुलनीय ऐश्वर्ययुक्त तथा विश्वका भरण-पोषण एवं धारण करनेवाला हूँ, वही मैं तुम्हारे चरणोंकी सेवामें लगा रहकर सुख तथा गौरवका बोध करता हूँ । जो अत्यन्त पवित्र भाव-तरंगें मुझ नित्य सच्चिदानन्दघन-स्वरूपके लिये भी अभिलषित हैं, वे जब मुझे तुममें लहराती दिखती हैं, तब मेरा अङ्ग-अङ्ग रोमाञ्चित हो उठता है । हे प्रिये ! मैं उन तरंगोंमें बह जाता हूँ तथा कोई भी तत्त्व तब पृथक् नहीं रहता । ऐसी स्थितिमें तुम्हारा अतुलनीय रहस्य एवं महिमा क्या तथा किस प्रकारके हैं—इसका वर्णन कौन कर सकता है ।

श्रीकृष्णके प्रेमोद्गार—श्रीराधाके प्रति

(राग भैरवी—ताल कहरवा)

तेरे उरकी शुचि सुन्दरता, पावन वह माधुर्य महान ।
तेरा शोभा-शील-भरा वह सरल हृदय सद्गुणकी खान ॥
तेरी अनुपम वह अनन्यता, तेरा वह पवित्रतम त्याग ।
तेरा वह सम्पूर्ण समर्पण, आत्मनिवेदन, शुचितम राग ॥
तेरा वह संकोच सुधामय, तेरा वह आदर्श सु-भाव ।
तेरी अमर्याद मर्यादा, गोपनीय उत्सुकता, चाव ॥
सभी पवित्र, सभी सुषमामय, सहज दिव्य आचार-विचार ।
उज्ज्वल, त्यागपूर्ण, प्रेमामृत-पूरित परमानन्दाधार ॥
कभी विस्मरण हो न पा रहा, बनी बिलक्षण स्मरणासक्ति ।
तेरे पद-कमलोंमें मेरी बढ़ती रहे सदा अनुरक्ति ॥

प्रिये राधिके ! तेरे अन्तरकी पावन सुन्दरता, वह महान् पवित्र माधुर्य, सद्गुणोंकी खान तथा शोभा एवं शीलभरा तेरा वह सरल हृदय, तेरी वह अनन्यता, जिसकी उपमा कहीं नहीं है, तेरा वह पवित्रतम त्याग, तेरा वह सम्पूर्ण समर्पण, आत्म-निवेदन एवं पवित्रतम अनुराग, तेरा वह अमृतमय संकोच, वह आदर्श सुन्दर भाव, तेरी असीम मर्यादा, वह गोपनीय उत्सुकता तथा चाव—सभी पवित्र हैं, सभी अत्यन्त शोभा-मय हैं । तेरे समस्त आचार-विचार सहज—अकृत्रिम एवं अलौकिक हैं; सभी उज्ज्वल, त्यागपूर्ण, प्रेमामृतसे छलकते एवं परमानन्दके आधार हैं । ये सब मुझसे भूले नहीं जा रहे हैं । इनके स्मरणके प्रति मेरी विचित्र आसक्ति हो गयी है । मैं यही चाहता हूँ कि तेरे चरण-कमलोंमें मेरा अनुराग सदैव बढ़ता ही जाय ।

श्रीराधाके प्रेमोद्गार—श्रीकृष्णके प्रति

(राग बिहाग—तीन ताल)

देउँ कहा तुम कहँ, स्याम सुजान !
तुम ही एकमात्र धन मेरे, सरवस-जीवन-प्रान ॥
मन मेरौ इक हुतौ मलिन, मल भर्‌यौ दोष-आगार ।
काम-अमर्ष-मोह-मद-ममता कौ पूरौ भंडार ॥
सोऊ हरि ! तुमने हरि लीन्हौ, बच्यौ न कछु मो पास ।
तुम ही वस्तु, लैनहारे तुम, तुम ही दाता खास ॥

हे सुजान-शिरोमणि श्यामसुन्दर ! मैं तुम्हें क्या भेंट दूँ ? मेरे तो एकमात्र धन, सर्वस्व, जीवन तथा प्राण तुम ही हो। मेरे पास तो मेरा एक मलिन मन था, जो मलसे परिपूर्ण एवं दोषोंका आगार था; काम, क्रोध, मोह, अहंकार तथा ममताका पूरा खजाना ही था। हे हरि ! तुमने उसे भी हरण कर लिया। अब तो मेरे पास कुछ भी शेष नहीं रहा है; तुम्हीं वस्तु हो, तुम्हीं उसको स्वीकार करनेवाले हो तथा तुम ही उसके विशिष्ट दाता हो।

आपके पास जो कुछ देनेको हो, दे डालिये

इस सिद्धान्तको आप कभी न भूलें कि आपका जन्म देनेके लिये हुआ है,—लेनेके लिये नहीं। अतएव आपके पास जो कुछ देनेको हो, उसे बिना आपत्तिके—बदलेकी कुछ भी इच्छा न रखकर दे डालिये। यदि ऐसा नहीं करेंगे तो दुःख भोगने पड़ेंगे। प्रकृतिके नियम इतने दृढ़ हैं कि यदि आप प्रसन्नतासे न देंगे तो वह आपसे जबर्दस्ती छीन लेगी। आप अपने सर्वस्वको चाहे जबतक छातीसे लगाये रहें; परंतु याद रखिये, एक दिन प्रकृति आपकी छातीपर सवार होकर उसे लिये बिना नहीं छोड़ेगी। प्रकृति बेईमान नहीं है, वह आपके दानका बदला अवश्य चुकाती है; परंतु बदला पानेकी इच्छा करेंगे तो सिवा दुःखके और कुछ भी हाथ न लगेगा। इससे तो यही उत्तम है कि आप प्रसन्नतासे उसकी चीज उसे दे दें। सूर्य समुद्रका जल खींचता है तो फिर उसी जलसे पृथ्वीको तर भी कर देता है। एकसे लेकर दूसरेको और दूसरेसे लेकर पहलेको देना तो प्रकृतिका काम ही है। उसके अटल नियमोंमें बाधा डालनेकी हमारे अंदर शक्ति नहीं है। कमरेकी हवा जितनी बाहर निकलती रहेगी, बाहरसे उतनी ही शुद्ध वायु भीतर आती जायगी। परंतु यदि आप घरका दरवाजा बंद कर देंगे तो बाहरसे हवा आना तो दूर रहा, अंदरकी हवा भी बिगड़कर आपको मृत्युके अधीन कर देगी। आप जितना अधिक देंगे, आप उससे हजारगुना प्रकृतिसे प्राप्त करेंगे; परंतु उसके लिये आपको धैर्य रखना होगा—अनासक्त बनना पड़ेगा। यह काम अत्यन्त कठिन है। ऐसी वृत्ति बनानेके लिये हमें बड़ी शक्ति प्राप्त करनी पड़ेगी। हमारे जीवनरूपी वनमें अनेक जाल बिछे हैं; अनेक प्रकारके साँप, बिच्छू, सिंह, शृगाल स्वेच्छासे घूम रहे हैं। उन सबसे बचकर रास्ता सुधारनेमें हमारे शरीरको चाहे जितने भी कष्ट क्यों न सहने पड़ें, हाथ-पैर टूटकर हमारा सारा शरीर खूनसे लथपथ क्यों न हो जाय, हमें अपनी मानसिक दृढ़ता ज्यों-की-त्यों बनाये रखनी चाहिये—अपने कर्तव्यपथसे कभी तनिक भी नहीं डिगना चाहिये।

—स्वामी विवेकानन्द

जो जितना ही उत्तमताके निकट आयेगा, उतना ही परमेश्वरके पास होगा !

(लेखक—डा० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्०डी०)

मानव-जीवनमें सफलताका एक हेतु प्रत्येक कार्यको उत्तम रीतिसे करना है। जो अपने कामको, चाहे वह कितना ही साधारण या नगण्य क्यों न हो, वेहतरीन तरीकेसे सम्पन्न करता है, वह अन्तमें बाजी मार ले जाता है। अपनी उत्कृष्टताके आधारपर ही मनुष्य व्यापार, नौकरी या उद्योगधंधे, कृषि आदि क्षेत्रोंमें प्रतिष्ठा और आदरका पात्र बनता है और इसीके बलपर सामाजिक या व्यावसायिक सफलताएँ प्राप्त होती हैं। मनुष्यकी अपने कामको मन लगाकर श्रेष्ठतम रूपमें सम्पन्न करनेकी आदत अन्य गुणोंकी अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है। उत्तमतासे कार्य करनेकी पूँजी किसी भी दशामें नष्ट नहीं हो सकती।

जो-जो व्यक्ति महान् कहलाये हैं, उन्होंने अपना-अपना पृथक् कार्यक्षेत्र चुना था। उसमें सफलताके लिये तत्सम्बन्धी अधिक-से-अधिक ज्ञान प्राप्त किया था, फिर खूब अभ्यास किया था, लेकिन उनमें सदा ही अपने लिये हुए कार्यको उत्तमतासे पूर्ण करनेका गुण विद्यमान था। इसी प्रवृत्तिके कारण वे दूसरोंकी अपेक्षा ऊँचे उठे और संसार तथा समाजमें अपना नाम कमा सके। अपनी उत्तमता, सर्वोत्कृष्टता और दूसरोंकी अपेक्षा उसी कार्यको वेहतरीन तरीकेसे सम्पन्न करनेके आधारपर ही वे बड़े आदमी—आदरणीय पुरुष माने जाते थे।

परमात्माका सबसे बड़ा गुण पूर्णता है। पूर्णताका दूसरा अर्थ है उत्तमता! जो व्यक्ति अपने कार्यको पूरा मन लगाकर उत्तमतासे सम्पन्न करता है, वह ईश्वरीय सत्ताके समीप ही माना जायगा। उत्तमता एक दैवी तत्त्व है। ईश्वरत्व उत्तमतामें ही विद्यमान हो सकता है। जो उत्तमताको अपना लक्ष्य बना लेता है, वह एक प्रकारका आराधक है। पूर्णताकी साधना, चाहे किसी भी क्षेत्रमें हो, उसे ईश्वरत्वके समीप लाती है।

उत्तम तरीकेसे कार्य करनेका लक्ष्य रखकर जो मनुष्य आगे बढ़ता है, वह अलक्षितरूपमें भगवान्‌की गुप्त सहायता भी प्राप्त करता चलता है। जो साधक जितना ही उत्तमताके तत्त्वकी आराधना करेगा, तदनुकूल ही ईश्वरीय अंश वह अपने-आपमें प्रकट करेगा।

अपूर्ण और अस्त-व्यस्त अधूरे मनसे काम करनेवाले अपरिपक्व होते हैं। वे अपने कामको जल्दी-जल्दी निपटाना चाहते हैं। उनके गुप्त मनकी अवस्था अस्त-व्यस्त होती है। अन्तर्मनका असंतुलन ही उनकी अधूरे मनसे काम करनेकी प्रवृत्तिका कारण है। वे अपने अफसर, ग्राहक, सरकार, मालिक या समाजसे रुपये या मज़दूरीके रूपमें तो बहुत चाहते हैं, पर बदलेमें देनेके लिये उनके पास अपना टूटा-फूटा अधूरा बे-मनमें किया हुआ साधारण कार्य होता है। उच्छृङ्खल, झगड़ालू और असंतुलित प्रकृतिके आदमी अपना काम तो मन लगाकर करना नहीं चाहते, दूसरोंको हानि पहुँचानेकी ताकतसे डरा-धमकाकर अपना स्वार्थ सिद्ध करना चाहते हैं। सम्भव है अनुचित तरीकेसे कुछ दिन लोगोंपर पूर्णताकी छाप लग जाय, पर समयके साथ असलियत खुल जाती है। अधूरे काम करनेवालेको कोई दो कौड़ीके लिये भी नहीं पूछता। न उसकी तरक्की हो पाती है और न समाजमें समुचित प्रतिष्ठा ही।

सम्भव है, साधारण और निकृष्ट कार्यसे संयोगवश कुछ दिनके लिये आप अपने आपको आगे ढकेल लें, किंतु आपकी यह सफलता अस्थायी रहेगी और गुणका मिथ्यात्व खुल जायगा। आपके कर्म आपके अंदरूनी गुण-अवगुण-पर ही आधारित होते हैं। आपके अस्त-व्यस्त कर्मोंसे आन्तरिक मनकी गंदगीका पता चल जायगा।

प्रत्येक व्यक्ति अपने पौरुषके अनुसार आगे बढ़नेकी परिस्थितियाँ स्वयं खोज लेता है; लेकिन अस्त-व्यस्त काम करनेवाला अपने लापरवाह, अधूरे और बेमनके कार्यके फल-स्वरूप अपनी सफलताएँ खुद अपने हाथों खो बैठता है। अपने निकृष्ट कार्यके कारण आलसी और लापरवाह व्यक्ति अपना सर्वनाश करता है।

हमारे दो निकट-सम्बन्धी एक बैंकमें लगभग एक ही साथ मैट्रिक पास करके क्लर्क हुए थे। उनमेंसे एक अपने कार्यमें लापरवाह और जल्दबाज थे। अफसरोंसे झगड़ा तथा उनके आज्ञा-पालनमें उदासीन रहते थे। दूसरे सदा अपने साधारण-से कार्यको भी बड़ी उत्तमता और सुन्दर तरीकेसे सम्पन्न करते थे, उसे कार्यरूपमें परिणत भी करते थे। नतीजा यह हुआ कि वे लगभग बीस वर्षकी नौकरीमें दूसरे सज्जनसे पाँच साल पहले बैंकके मैनेजर बन गये।

लापरवाहीसे कामको टालने या बोझ समझकर करनेवाले व्यक्ति बड़ी कठिनतासे वह स्थान पा सके। उन्हें अनेक झटके लगे। कई बार अपने अफसरोंके कोप-भाजन बने, तरक्कीमें हानि उठानी पड़ी, मुकदमेमें फँस गये। अपनी क्षमताओंसे पूरा लाभ न उठा पाये। उत्तमतासे काम करना सफलताका आधार बना रहा है।

समाजमें समृद्धि, धन, प्रतिष्ठा, गौरव, विद्या-बुद्धि, सद्गुण इत्यादिमें कोई भी ऐसी दुर्लभ वस्तु या स्थिति नहीं है, जो आपकी पहुँचके भीतर न हो। प्रत्येक उत्तम पद-प्रतिष्ठा या वस्तुपर आपका अधिकार है; लेकिन उत्तमताकी शर्त जरूरी है। आप जिस लक्ष्यको भी चुनें, उत्तमतासे पूर्ण करनेकी आदत बनायें। व्यवहारमें प्रत्यक्ष करके दिखलायें। उन्नतिके लिये किसी भी क्षेत्रमें पूर्णता प्राप्त करनेका ध्येय बना लें।

आप अपनी संकल्प-शक्तियोंको आदेश (सजेश्चन) दें कि मैं पूर्ण ईश्वरका एक अंश हूँ। पूर्णमेंसे पूर्ण (अर्थात् उत्तमता) का ही जन्म होता है। मैं पूर्णत्व (अर्थात् ईश्वरत्व) की ओर ही बढ़ रहा हूँ। उत्तमता और श्रेष्ठताकी ही बात सोचता हूँ। जिस कामको हाथमें लेता हूँ, उसे उत्तमतासे पूरा करता हूँ। प्रतिकूलसे प्रतिकूल अर्थात् बिगड़े हुए कार्यको भी बेहतरीन तरीकेसे पूर्ण करता हूँ। मेरे मनमें पूर्णब्रह्म सत्-चित्-आनन्दस्वरूप ईश्वरका निवास होनेसे कोई मलिनता मेरे कार्योंमें नहीं आ सकती है। मैं जो भी कार्य करूँगा, सर्वश्रेष्ठ तरीकेसे ही पूर्ण करूँगा। मेरे प्रत्येक कार्यका रूप उत्तम ही होगा। मैं पूर्ण परमात्मासे तादात्म्य रखता हूँ। अतएव संसारकी प्रत्येक उत्तम वस्तु या सद्गुणका मैं पूरा हकदार हूँ। दिव्य सम्पत्तियोंका वारिस हूँ। अपनी आत्मशक्तिके लंबे-चौड़े हाथोंसे मैं पूर्णता अवश्य प्राप्त कर सकता हूँ।

आप जितना ही उत्तमताको प्राप्त करनेका संकल्प बनायेंगे, उतना ही सफलताके समीप आयेंगे।

अपने आपको तुच्छ और मामूली समझना छोड़िये !

हम प्रायः ऐसे दुर्बल-मन व्यक्तियोंको देखते हैं, जिनकी आदत उत्तमतासे दूर हो गयी है। वे स्वयंको तुच्छ और साधारण समझ बैठे हैं। जिस दीन-हीन-कमजोर विचारको मनमें रखनेसे हानि होती है, उसी हीनत्वकी भावनाको रखकर अपनी सृजनात्मक प्रतिभाका क्षय किया करते हैं। प्रतिक्रिया-स्वरूप वे आज भी उसी दयनीय स्थितिमें पड़े हुए हैं, जिस स्थितिमें वर्षों पहिले उन्होंनेशुरू किया था।

जीवनके आधारभूत नियमोंमें कदाचित् प्रमुख नियम यही है कि मनुष्य मन, विचार, आकाङ्क्षा और अपने शरीरका सदुपयोग सीखे। ईश्वरप्रदत्त अपने जन्मजात सद्गुण बढ़ाये, अपने चरित्रके छल-कपट, ईर्ष्या-द्वेष, काम-क्रोध, उत्तेजना आदि विकारोंको नियन्त्रितकर सुसंस्कृत बने। सदा यह अनुभव करे कि वह परमशक्तिसम्पन्न एक सुदृढ़ चैतन्य आत्मपिण्ड है। समाजकी समस्त उत्कृष्टतम वस्तुओं-पर उसका पूर्ण अधिकार है। प्रतिष्ठा, मान-सम्मान, पदाधिकार, धन-सम्पत्ति, मोक्ष इत्यादि कुछ भी क्यों न हो, उससे विमुख नहीं है। वह अपने उद्योग, परिश्रम एवं अध्यवसायद्वारा इन सभी उच्च स्थितियोंको प्राप्त कर सकता है और करेगा भी।

दूसरी ओर यह भी संकल्प ले कि अपनी नकारात्मक खोटी प्रवृत्तियोंको वह छोड़ता जा रहा है। आलस्य और अकर्मण्यतासे उसका अब कोई सम्बन्ध नहीं है। गंदे मनोविचारोंसे वह सर्वथा मुक्त है। जो व्यक्ति अपनी दुर्बलताएँ छोड़ता है, वह भी कालान्तरमें उत्कृष्टताकी ओर बढ़ता जाता है।

कितने ही व्यक्ति साधारण-सी असफलता या परीशानीसे बुरी तरह अस्त-व्यस्त हो उठते हैं और अपनी महत्त्वाकाङ्क्षाओंको मृतप्राय कर डालते हैं। वे थोड़ी-सी प्रतिकूलता या मुसीबतको बहुत बड़ा करके देखते हैं। फिर यह समझने लगते हैं कि हमारा लक्ष्य या अभिलषित वस्तु हमसे दूर है। हमें प्राप्त न होगी।—ऐसी दीन-हीन-पराजित भावना अत्यन्त घातक है। इस निराशाको त्याग देना चाहिये।

प्रत्येक उत्तम वस्तु या स्थिति—यश, प्रतिष्ठा, गौरव, विद्या, धन, उत्पादक या उर्वर मनके द्वारा प्राप्त होती है। पहले उसके अनुसार सृजनात्मक मनःकेन्द्र चाहिये। इसे मनमें दृढ़तासे बैठानेके बाद वह इस संसारमें प्रकट होती है। अतः आप अपने ऊँचे आदर्शोंको मनमें स्थिर कीजिये, उन्हें प्राप्त करनेके लिये ईमानदारीसे प्रयत्न कीजिये। दैनिक जीवनमें उसका अभिनय कीजिये। उन कार्योंको प्रतिदिन कीजिये। अपने कल्पना-जगत्में उन्हें प्राप्त हुआ देखिये।

नैपोलियनके जीवनकी वह घटना याद कीजिये—

एक बार एक आवश्यक कार्यके लिये युद्धसे सम्बन्धित किसी वार्त्ताके लिये नैपोलियनको समाचार देनेके लिये एक सैनिक सवार वायु-वेगसे उनके पास आया। सैनिकका घोड़ा बुरी तरह थक चुका था। घुड़सवार ज्यों ही नैपोलियन-के समीप पहुँचा और घोड़ेसे नीचे उतरा, थका हुआ घोड़ा त्यों ही पृथ्वीपर गिरकर मृत्युको प्राप्त हुआ। जरूरी काम था। नैपोलियनने खतका जवाब लिखकर तुरंत सवारको दिया। फिर आदेश दिया—

'सैनिक! तुम्हारा घोड़ा मर गया है। काम बेहद जरूरी है। अतएव तुम मेरे इस विशेष घोड़ेपर सवार होकर युद्ध-भूमिमें जाओ और सेनापतिको हमारा यह पत्र दो।'

सैनिक घबरा गया!

नैपोलियन-जैसा ऊँचा शासक उसे अपने सर्वश्रेष्ठ घोड़ेपर बैठनेका आदेश दे रहा है! क्या यह सत्य है? किंकर्तव्यविमूढ हो वह बोला—

'शाहंशाह! हम-जैसे निम्नश्रेणीके तुच्छ सैनिकोंका आपके घोड़ेपर बैठना उचित नहीं है। कहाँ आप आकाशके सूरजकी तरह ऊँचे, कहाँ हम धरतीके कंकड़-पत्थर! मैं पैदल ही भागता चला जाऊँगा।'

'नहीं, नहीं। पैदल क्यों जाओगे! दुनियामें ऐसी कोई भी उत्कृष्ट स्थिति या वस्तु नहीं है, जिसपर तुम्हारा अधिकार न हो। एक छोटे-से-छोटा सैनिक भी प्रत्येक उच्चतम वस्तु प्राप्त कर सकता है। लो, मेरे उत्तम घोड़ेपर सवार होकर यह जरूरी चिट्ठी सेनानायकके पास पहुँचा दो।'

सैनिक आश्चर्यमें डूबा हुआ डरे-डरे नेत्रोंसे नैपोलियनके मजबूत घोड़ेको निहारने लगा। एक बार फिर दबी जबानसे कहने लगा, 'शाहंशाह! ऐसे उत्तम घोड़ेपर तो आपको बैठना शोभा दे सकता है; मुझ-सरीखे मामूली सैनिकके भाग्यमें यह नहीं लिखा है।'

वीर नैपोलियनने जो उत्तर दिया, वह सुनहरे अक्षरोंमें मँढ़कर जड़वाने और आगे बढ़नेवालोंके लिये अमर सूत्र है—

'वह इस धरतीपर ऐसी कोई भी ऊँची, उत्तम, गौरवपूर्ण स्थिति या असाधारण वस्तु नहीं है, जिसका अत्यन्त साधारण माना जानेवाला मामूली आदमी उपयोग न कर सके, या अपने पौरुषसे प्राप्त न कर सके।'

कितने प्रेरक शब्द थे ये!

आप भी शायद अपने असली स्वरूप—(सत्-चित्-आनन्दस्वरूप) को भूले हुए हैं! ऊपर लिखे शब्दोंपर विचार कीजिये। अपने सोये हुए पुरुषार्थको जाग्रत् कीजिये। यदि कोई आपके सम्बन्धमें दीन-हीन बातें उच्चारण करता है तो उसे कदापि स्वीकार मत कीजिये। आप तो दृढ़ता-पूर्वक यही कहिये, 'मैं तो शक्ति-सम्पन्न ज्योतिर्मय पिण्ड हूँ। महान् पिताका महान् शक्तिपुत्र होऊँ। ऐसा कोई गौरव-शाली पद नहीं है, जिसके योग्य मैं न होऊँ। संसारकी कोई ऐसी उत्कृष्ट वस्तु नहीं है, जिसपर मेरा अधिकार न हो।'

जब कभी आपके मनमें कायरता और निराशाके विचार आयें तो पुरुषोचित साहससे गर्जना कीजिये और कहिये कि 'मैं शेरकी तरह साहसी हूँ। उत्कृष्ट तत्त्वोंका स्वामी हूँ। संसार और समाजकी प्रत्येक उत्तम वस्तुपर मेरा अधिकार है और मैं उसे प्राप्त करके रहूँगा।'

आप संसारकी टीका-टिप्पणीकी परवा न करें। सदैव उन्नतिशील प्रेरणामें अग्रसर होते रहें।

जो स्वयं अपनी बेकदरी करते हैं, वे कायर और डरपोक हैं। उनमें जो ईश्वरका तत्त्व विराजमान है, वे उसका निरादर करते हैं। आप ईश्वरके पुत्र हैं। ईश्वरके तमाम गुणोंसे परिपूर्ण हैं। भगवान्में किसी प्रकारकी संकीर्णता नहीं है, सीमा-बन्धन नहीं है, प्रत्युत शक्ति-सामर्थ्य और समृद्धिकी विपुल सम्पदा भरी पड़ी है। ईश्वरका आपके लिये आदेश है—'पूर्ण बनो, जैसा कि मैं हूँ। शक्तिशाली बनो, जैसा कि मेरा रूप है। समृद्धिशाली बनो, जो मेरा स्वभाव है।'

अतः आप कभी भी अपने—आपको नगण्य, नीच, दीन, दुःखी, दरिद्री, रोगग्रस्त न समझिये। बाहर गर्वसे सीना फुलाकर कहिये कि 'प्रत्येक उत्तम स्थिति और वस्तु-पर मेरा अधिकार है। कोई मुझसे मेरा वह अधिकार हरण नहीं कर सकता।'—अपने मनको निराशाजनक विचारोंसे हटाकर सुन्दर और कल्याणकारी स्थितियोंपर लगाइये, विरोधको हटाकर ऐक्य, प्रेम, सहानु-भूतिपर लगाइये, मृत्युसे हटाकर दिव्य जीवनकी ओर लगाइये। यही सुख-समृद्धि और दिव्य जीवन बनानेकी उत्कृष्ट कला है।

पढ़ो, समझो और करो

(१)

'मंद करत जो करइ भलाई ।'

सन् १९६७की बात है । एक व्यक्ति अपनेको विद्यार्थी घोषित करता हुआ श्रीभाईजी (श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)के पास आया । श्रीभाईजी उन दिनों अस्वस्थ थे और ऊपरके कमरेमें रहते थे । नीचे उनका सेवक आनेवाले व्यक्तियोंसे मिलकर, उनकी आवश्यकता जानकर श्रीभाईजीको सूचित करता था । श्रीभाईजी आगत महानुभावकी आवश्यकता समझकर सहायताकी रकम अपने सेवकको बता देते थे और वह आगत महानुभावको उतनी रकम देकर उनका स्वागत कर देता था । आवश्यक होनेपर भाईजी आगत सज्जनको अपने पास बुलाकर भी बात कर लेते थे । उस दिन आगत महानुभावको देखते ही सेवकने पहचान लिया कि इस व्यक्तिको कई बार भाईजीके यहाँसे सहायता मिल चुकी है और वह विद्यार्थी नहीं है । सेवकने उसे समझाया—"आप कई बार सहायता पा चुके हैं । बेचारे बहुत लोग अभावग्रस्त हैं, सभीको मौका मिलना चाहिये यहाँसे पानेका । बार-बार एक ही व्यक्ति आता रहे—यह तो ठीक नहीं । दूसरे, आप विद्यार्थी न होकर अपनेको विद्यार्थी क्यों कहते हैं ? किसीकी सज्जनताका दुरुपयोग तो नहीं करना चाहिये । सच्ची-सच्ची बात कहिये—'मैं अभावग्रस्त हूँ, मुझे कुछ चाहिये' ।" इतना सुनते ही वे अपनी कलई खुलनेसे उत्तेजित हो गये, अंट-संट बोलने लगे । सेवकको यह बुरा लगा । उसने गम्भीर स्वरमें कहा—'आप भद्रतापूर्वक व्यवहार करें तो मैं आपकी बात सुननेको तैयार हूँ । परंतु इस प्रकार उत्तेजित होकर अशोभनीय बात कहना चाहते हैं तो आपको यहाँ नहीं आना चाहिये था । आपलोग अपना अभाव-निवेदन करने आते हैं कि इस प्रकार धोखा देकर क्रोध करनेके लिये ?' इतना सुनते ही आगत सज्जन बहुत क्रोधमें आ गये और सेवकको गाली देने लगे । हल्ला सुनकर श्रीभाईजीके दौहित्र आ गये । उस व्यक्तिको गाली देते देख उनको बहुत बुरा लगा और उन्होंने दरवानको आवाज देकर उन सज्जनको समझाकर बगीचेके बाहर कर दिया । इतना ही नहीं—दौहित्र अपने नानाजी (श्रीभाईजी)के पास गये और उन्हें बताया कि किस प्रकार बार-बार सहायता प्राप्त करनेवाला व्यक्ति धोखा प्रकट होनेसे आपके सेवकको बुरी-बुरी गाली देकर गया है । श्रीभाईजी दौहित्रकी बातें सुनते रहे । पीछे बोले—'वह घरकी किसी अभावमयी स्थितिसे परीशान होगा, इसीसे विद्यार्थीका स्वाँग बनाकर आया था । मनुष्य जब अभावमें होता है, तब उसका विवेक मारा जाता है । उसने गाली दी, यह उसकी भूल है; पर गाली किस लाचारीकी स्थितिमें दी, यह तो हम नहीं जानते । बेचारेकी परिस्थितिमें हम होते, तब पता चलता हम क्या करते ।' दौहित्र अपनी बातपर अड़े थे कि 'आपके सेवकको गाली देना आपको गाली देना है । ऐसे व्यक्तिको तो कभी भी एक पैसा नहीं देना चाहिये ।' श्रीभाईजीने कुछ भी उत्तर नहीं दिया, चुप हो गये ।

थोड़ी देर पश्चात् आगत महानुभावका कहींसे टेलीफोन आया । श्रीभाईजीने टेलीफोन उठाया । उसने कहा—'मैं आपके यहाँ अपनी आवश्यकता निवेदन करने गया था, पर आपके सेवकसे कुछ तकरार हो गयी । उन्होंने मुझे बगीचेसे बाहर जानेका आदेश दिया और मैं बिना अपना दुःख सुनाये चला आया । मेरी माँ बीमार है, मुझे इतने रुपये चाहिये ।' श्रीभाईजीने टेलीफोनपर सब बातें सुनकर कहा—'आज तो नहीं, पीछे मिलियेगा ।' पर उन्हें कहाँ चैन । उन्होंने १० मिनट पश्चात् पुनः टेलीफोन किया । श्रीभाईजीने पुनः टेलीफोन उठाया और कहा—'मैंने आपसे कह दिया था कि आज नहीं ।' इसपर वे टेलीफोनपर ही बड़े गिड़गिड़ाने लगे । अपनी आवश्यकताका महत्त्व बताने लगे । श्रीभाईजी द्रवित हो गये । बोले—'आ जाइये । आपको इतने रुपये मिल जायँगे । आप उसी सेवकसे मिल लीजियेगा । वह आपको इतने रुपये दे देगा । आपको इस तरह झगड़ा नहीं करना चाहिये । गाली तो कभी देनी ही नहीं चाहिये ।'

उसने कहा—'हाँ, मुझसे भूल हो गयी है । मैं क्रोधमें आ गया और मेरे मुँहसे अपशब्द निकल गये । मैं सेवक महानुभावसे माफी माँग लूँगा ।'

उसे आनेकी बात कहकर श्रीभाईजीने अपने सेवकको बुलाया और कहा—'मुझे बच्चोंने बताया है कि एक सज्जन आये थे । उन्होंने तुमसे झगड़ा किया और गालीतक देने लगे । वे झूठ बोल रहे थे—यह मैं जानता हूँ; पर बेचारे हैं तो कष्टमें । उनकी माँ बीमार है । उनका टेलीफोन

आया है। मैंने उनको आनेको कह दिया है। तुम उन्हें इतने रुपये दे देना। दुःखी व्यक्तिका विवेक नष्ट हो जाता है।'

सेवक श्रीभाईजीके हृदयकी कोमलतासे परिचित थे। उन्होंने कहा—"मैं देनेके पक्षमें हूँ—अपने पास हो तो अभावग्रस्तको देना ही चाहिये; पर वे झूठ बोल रहे थे। इसीसे मैंने उन्हें समझाया कि 'सच्ची बात कहिये। झूठ क्यों बोलते हैं! आपने उन्हें आनेको कहा ही है। उनके आनेपर मैं उन्हें इतने रुपये दे दूँगा।"

वे सज्जन आये और सेवकसे मिले। वे अपनी गल्तीके लिये बार-बार क्षमा-याचना करने लगे। सेवकने कहा—'मेरे मनपर इस घटनाका कोई प्रभाव नहीं है। पर आप कहीं भी जायँ, कुछ भी कहें; पर झूठका आश्रय नहीं लेना चाहिये। सही-सही अपनी आवश्यकता निवेदन कर देनी चाहिये।' वे सज्जन बड़े लज्जित हुए। रुपये पाकर आशीर्वाद देते हुए चले गये।

रुपये देकर जब सेवक श्रीभाईजीसे मिला, तब भाईजीने कहा—'भैया! अभावग्रस्तको विवेक नहीं रहता। दूसरे, अभावग्रस्तके व्यवहारकी ओर न देखकर उसके अभावकी ओर देखना चाहिये। तीसरे, भूल करनेवालेके प्रति अपना सद्व्यवहार कम नहीं होना चाहिये, बल्कि उसके साथ अधिक सद्व्यवहार करना चाहिये। ऐसे व्यक्तिके प्रति किया गया सद्व्यवहार ही उसके सच्चे सुधारमें हेतु बनता है। शासनद्वारा कभी सच्चा सुधार सम्भव नहीं है। शासनसे अपराध दृढ़मूल हो जाता है। शासन अपराधीका सुधार नहीं करता है, अपराधीको और अधिक अपराधी बनाता है।'

सेवक नतमस्तक थे। उन्हें श्रीतुलसीदासजीके वचन स्मरण हो आये—

'उमा संत कइ इहइ बड़ाई। मंद करत जो करइ भलाई॥'

(२)

डाक्टर पण्डित

पण्डित मदनमोहन मालवीय सफलकाम हो चुके थे। हिंदू-विश्वविद्यालय स्थापित हो चुका था और वे स्वयं उसका सुसंचालन कर रहे थे।

कलकत्ता यूनिवर्सिटीके वाइस-चांसलरका एक दिन एक पत्र पण्डित मालवीयको मिला, जिसमें लिखा था—'कलकत्ता यूनिवर्सिटी आपको डाक्टरेटकी सम्मानित उपाधिसे अलंकृत करके गौरवान्वित होना चाहती है। आशा है, आप अपनी स्वीकृतिसे मुझे शीघ्र सूचित करेंगे।'

एक क्षणका भी विलम्ब न कर मालवीयजी स्वयं अपने हाथसे लिखकर उस पत्रका उत्तर दिया—"मैं जन्म और कर्मसे ब्राह्मण हूँ। ब्राह्मणके लिये 'पण्डित'से बढ़कर अन्य कोई उपाधि नहीं हो सकती। 'डाक्टर मदनमोहन' कहलानेकी अपेक्षा मैं 'पण्डित मदनमोहन' कहलाना अधिक पसंद करूँगा। आशा है, आप इस ब्राह्मणकी इस भावनाका आदर करेंगे।"

वृद्ध मालवीयजी वाइसरायकी कौंसिलके वरिष्ठ काउंसिलर भी थे। उनकी गहन और तथ्यपूर्ण आलोचनाओंके बावजूद वाइसराय उनकी मेधा, मधुरता, सज्जनताके बहुत कायल थे। एक विशेष मुलाकातमें वाइसरायने कहा—"पण्डित मालवीय! हिज मैजिस्टीकी सरकार आपको 'सर'की उपाधिसे अलंकृत करना पसंद करेगी। क्या आप उसे स्वीकार करेंगे?" मालवीयजीने तुरंत उत्तर दिया—"महामहिम! धन्यवाद। किंतु ब्राह्मणके लिये 'पण्डित'की उपाधि ही सर्वोपरि उपाधि है, जो मुझे वंशपरम्परासे ही प्राप्त है।"

काशीके पण्डितोंकी सभाद्वारा 'पण्डितराज'की उपाधि दिये जानेके सुझावपर उस देवताने कहा था—"पण्डितकी उपाधि विशेषणातीत है। मुझे 'पण्डित' ही रहने दीजिये।"

जब भी किसी ब्राह्मण विद्वान्‌के नामके पूर्व 'डाक्टर' शब्दका प्रयोग होता है, मुझे पण्डित मदनमोहन मालवीयकी याद आ जाती है। डा० भगवानदाससे एक बार उन्होंने कहा था—"ब्राह्मणेतर किसी भी विद्वान्‌के नामके पूर्व 'डाक्टर' शब्दका प्रयोग शोभनीय है। परंतु एक ब्राह्मण विद्वान्‌के नामसे पूर्व 'डाक्टर' शब्दके प्रयोगमें मुझे बहुत हल्कापन-सा प्रतीत होता है।"

वे देवता अपने जीवनके अन्तिम क्षणतक विशुद्ध ब्राह्मण और शुद्ध पण्डित ही बने रहे। कभी स्वप्नमें भी उन्होंने किसी अन्य उपाधि अथवा विशेषणकी कामना नहीं की।

—विद्यानन्द 'विदेह'

(३)

धर्मका भाई

सौराष्ट्रमें एक प्रसिद्ध एवं सच्चरित–उदार डाकू हो गया है। उसका नाम था—कादू मकरानी। मकरानी शरीफ मुसल्मान

जाति है। वशावतके समयमें कादूको तीन दिनतक खुराक नहीं मिली। खुराककी खोजमें वेष बदलकर वह एक कस्बेमें जा पहुँचा। बीच बाजारमें एक युवती अमरूद लेकर बैठी थी। असहाय औरतों, ब्राह्मणों और गोपालकों—ग्वालोंको कादू मकरानी कभी लूटता नहीं था और गरीब व्यापारियोंसे भी वह पूरा मूल्य देकर माल खरीदता था। अतः उसने अमरूदका मूल्य पूछा। उस समय अमरूद डेढ़ आने सेर मिलते थे, किंतु उस चतुर युवतीने कादूको पहचान लिया और कहा—'सेरके छः आने हैं, भाई!'

'तुम्हारे अमरूद बहुत महँगे हैं।' कादूने कहा।

'ताजे-पके अमरूद भी तो हैं।' युवती बोली। 'मैं आपके साथ कोई जबरदस्ती तो नहीं करती हूँ! पैसे आपकी जेबमें हैं और अमरूद मेरे टोकरेमें।'

'अच्छा!' कादू बोला—'चार सेर अमरूद दे दो।'

अमरूद तौलकर युवतीने कादूके झोलेमें भर दिये और कादूने अठन्नी निकालकर उस युवतीके हाथपर रख दी।

'यह तो अठन्नी है। क्या आपको इतना भी मालूम नहीं कि चार सेरका डेढ़ रुपया होता है? आप पढ़े-लिखे तो हैं न?' युवती क्षोभमें बोली।

'मैं पढ़ा-लिखा तो नहीं हूँ, बहन!' कादू बोला! "किंतु मुझे लेखा-जोखा तो आता है। तुम्हींने तो कहा था, 'पैसे तुम्हारी जेबमें हैं और अमरूद मेरे टोकरेमें;' किंतु अब तो दोनों ही मेरे हाथमें आ गये। जब अमरूद तेरे पास थे, तूने मनमाना भाव माँगा। अब अमरूद मेरे पास हैं तो मैं भी अपना मनचाहा पैसा दे सकता हूँ।" युवती कादूका उत्तर सुनकर अवाक् रह गयी।

"मगर नहीं।" थोड़ी देर रुककर कादू बोला। "तुमने मुझे 'भाई' कहा, और मैंने भी तुझे 'बहन' कह दिया। ये आठ आने तो तेरे अमरूदका मूल्य है। बहनको भी कुछ देना होता है, कुछ भी बिना दिये भाई बहनसे कैसे विदा हो सकता है।" कहकर कादूने अपनी जेबमेंसे रूमालमें लपेटे हुए दो सोनेके कंगन निकाले और उस युवतीके हाथमें उन्हें देते हुए बोला—"लो बहन! यह है भाईकी तुच्छ भेंट। मगर गरीबोंके हाथ महँगे भावमें अमरूद मत बेचना। मुझे लोग 'कादू मकरानी' के नामसे जानते हैं।" कहकर कादू वहाँसे चल दिया। युवतीकी आँखोंसे अश्रुप्रवाह चल रहा था और होठोंपर था मूक आशीर्वाद—'चिरंजीव हो मेरा भाई कादू मकरानी।'

अखण्ड आनन्द! —विनोद एम. पुरोहित

(४)

मजाकमें झूठ

सन् १९२६में एक नवयुवक स्नातक साबरमती आश्रममें रहनेके लिये आया था। उसे बच्चोंसे बहुत प्रेम था, इसलिये शीघ्र ही वह उनमें लोकप्रिय हो गया।

एक दिन वह एक आठ वर्षकी बालिकाको खेल-तमाशा दिखा रहा था। उसके हाथमें एक नीबू था और वह बच्ची उस नीबूको पाना चाहती थी। उछलती-कूदती, हँसकर चीखती; लेकिन वह उस युवकके हाथसे नीबू ले नहीं पा रही थी। थक गयी तो हारकर रोने लगी। वह नीबू आश्रमके एक मरीजके लिये था। युवक चक्करमें पड़ गया। यदि वह नीबू उसे दे दे तो उस मरीजका क्या होगा?

अचानक उसने नाटकीय ढंगसे हाथ घुमाया। कहा—'मैंने नीबू नदीमें फेंक दिया।'

लेकिन वह नीबू उसने चालाकीसे अपनी जेबमें रख लिया था। बच्चीने पूछा, 'अब नदीमें उस नीबूका क्या होगा? क्या मैं उसे ढूँढ़ सकती हूँ।' युवकने उत्तर दिया, 'नहीं, वह नीबू डूब गया।'

दोनोंमें फिर दोस्ती हो गयी। साथ-साथ ही वे दोनों रोगीकी कुटीतक गये। मार्गमें उस युवकने अपनी जेबसे रूमाल निकाला तो उसके साथ वह नीबू भी निकलकर नीचे गिर पड़ा। उसे देखकर बच्ची उसकी ओर झपटी नहीं, बल्कि क्रोधमें भरकर उसने युवककी ओर देखा। बोली, 'तो तुम मुझसे झूठ बोले थे। जेबमें नीबू छिपाकर मुझसे कहा कि डूब गया। मैं बापूजीसे कहूँगी तुम झूठे हो।'

और सचमुच उसने गांधीजीसे सब कुछ कह दिया। शामकी प्रार्थनाके बाद गांधीजीने उस युवकको बुलाया। युवकने जो कुछ हुआ था, वह सब कुछ कह सुनाया। गांधीजी समझ गये कि वह महज मजाक था। फिर भी उन्होंने कहा, 'तुम्हें इस बारेमें सजग रहना चाहिये। बच्चोंके साथ कभी मजाकमें भी झूठका व्यवहार नहीं करना चाहिये। हँसी-मजाकमें शुरू हुई बात आगे चलकर आदत भी बन सकती है।' ('मेरा पेट भारतका पेट है' से)

(५)

न्यायकी सच्ची प्रतिष्ठा

दो वकीलोंमें एक बार भयंकर वैर हो गया। संयोग-वशात् एक वकीलको कुछ दिनोंमें न्यायाधीशका पद मिल

गया और उन्हींकी अदालतमें दूसरे वकीलको अपराधी बनकर आना पड़ा। मामला भी बहुत विवादास्पद था। जीत-हारका निर्णय उन्हीं न्यायाधीशके ऊपर निर्भर था।

मनुष्य जगत्‌को अपनी आँखसे देखता है। प्रायः सभी व्यक्तियोंकी धारणा थी कि न्यायाधीश महाशय इस मामलेमें पुराना वैर अवश्य निकालेंगे। इतना अच्छा अवसर वे हाथसे कैसे जाने देंगे।

फैसलेका दिन आया। अदालतमें भीड़ जमा थी। सभी फैसला सुननेके लिये उत्सुक थे। न्यायाधीशने गम्भीर स्वरमें फैसला सुनाया। सभी आश्चर्यचकित थे—फैसला वकीलके पक्षमें था।

न्यायाधीशने ऐसा क्यों किया, यह बात अपराधी वकीलकी समझमें भी नहीं आ रही थी। पुराने वैमनस्यका बदला लेनेका इतना अच्छा मौका न्यायाधीशने क्यों खो दिया—सभीके मनमें यह प्रश्न था। अदालत उठनेपर न्यायाधीश जब घर पहुँचे, तब उनके एक मित्रने न्यायाधीशसे प्रश्न भी कर दिया—'बदला लेनेका सुन्दर मौका आपने क्यों गवाँ दिया ?'

'मैं दुश्मन नहीं था। न्यायाधीशने उत्तर दिया—'मैं तो वादी-प्रतिवादीका निर्णय करनेके लिये न्यायासनपर बैठा था, अपनी अदालतका निर्णय करनेके लिये नहीं।'

मित्र उत्तर सुनकर गद्गद हो गये। उनके मुखसे निकल पड़ा—'यही तो न्यायकी सच्ची प्रतिष्ठा है।'

'अखण्ड आनन्द' —प्रेममूर्ति

(६)

नौशेरवाँकी न्यायशीलता

फ़ारसके बादशाह नौशेरवाँको शिकार खेलनेका बड़ा शौक था। वह इसमें कोई बुराई न मानता था। पर एक बार एक घटनाने उसपर इतना प्रभाव डाला कि उसने न केवल शिकार करना छोड़ दिया, बल्कि वह बड़ा ही अहिंसक, दयालु और न्यायशील बन गया।

उसने देखा—एक दिन एक आदमीने एक कुत्तेको पत्थर मारा, जिससे उसकी टाँग टूट गयी। उसी समय उधरसे एक घोड़ा भागता हुआ आया और उसने उस आदमीको लात मारी, जिससे उसकी भी टाँग टूट गयी। घोड़ा भागता हुआ आगे बढ़ा और एक गड्ढेमें गिर गया तथा उसकी भी टाँग टूट गयी। इस विचित्र संयोगको देखकर आस्तिक नौशेरवाँ बड़ा गम्भीर हो गया। इस घटनामें उसने ईश्वरके न्यायका संकेत देखा और उसका जीवन ही बदल गया। बुद्धिमान्‌लोग संसारकी एक छोटी-सी घटनासे भी बड़ी शिक्षा ग्रहण कर लिया करते हैं। वे संसार-चक्रकी प्रत्येक गतिमें ईश्वरीय निर्देश, उसके मन्तव्य और रहस्यपूर्ण लीलाका संकेत पाया करते हैं।

उसी दिनसे नौशेरवाँने किसीको जरा भी दुःख देना छोड़ दिया और राजा होकर भी संतोंकी तरह रहने लगा। एक बार उसने अपनी लिखी एक पुस्तक एक विद्वान्‌को दिखलायी। विद्वान्‌ने उसमें कई जगह संशोधनका परामर्श दिया। नौशेरवाँने पुस्तककी पाण्डुलिपिमें काटकर वैसा ही कर लिया। पर बादमें जब विद्वान् चला गया, तब नौशेरवाँने फिर काटकर यथापूर्व कर लिया। इसपर एक मित्रने कहा—'जब आपको ऐसा ही रखना था, तब पहले ही क्यों काटा।' नौशेरवाँने कहा—'उस समय यदि मैं वैसा न करता तो उस विद्वान्‌का हृदय दुख जाता; लेकिन मैं जानता हूँ कि उसका परामर्श ग़लत है। इसलिये उसके जानेके बाद फिर पूर्ववत् कर लिया। इससे मेरी किताब भी ठीक रही और उसको कष्ट पहुँचानेसे भी बच गया।'

एक बार तातार देशकी सीमासे बहुत-से गीदड़ नौशेरवाँके राज्यमें घुस आये। नौशेरवाँने विद्वानोंको बुलाकर उसका कारण पूछा। उन्होंने उस अवसरसे राज्य-व्यवस्थामें सुधारका अवसर निकाल लिया और बोले—'गीदड़ उसी राज्यमें ज्यादा जाया करते हैं, जहाँ अन्याय बढ़ जाया करता है।'

नौशेरवाँने तत्काल ही राज्य-व्यवस्थाकी जाँच-पड़ताल शुरू कर दी। उसके लंबे-चौड़े राज्यके चौबीस सूबोंके शासक अन्याय और अव्यवस्थाके दोषी पाये गये। उनमेंसे बहुत-से नौशेरवाँके निकट सम्बन्धी और प्रियजन भी थे, किंतु नौशेरवाँने समानरूपसे सबको समुचित दण्ड दिया और शासन-व्यवस्थामें सुधार किया।

एक बार रोम देशका राजदूत फ़ारस आया। उन्हीं दिनों नौशेरवाँने एक बड़ा महल बनवाया था और उसमें बड़ा सुन्दर बाग़ लगवाया था। राजदूतने उसे देखनेकी इच्छा प्रकट की और एक फ़ारसी सरदार उसे दिखलाने ले गया। राजदूत महल और बाग़ देखकर बहुत प्रसन्न हो रहा था और प्रशंसा कर रहा था। तभी उसकी दृष्टि उस सुन्दर बाग़के एक कोनेपर खड़ी एक बड़ी ही गंदी झोपड़ीपर पड़ी, जिसने बाग़के सुन्दर आकार-प्रकारको बिगाड़ रक्खा था। राजदूतको बड़ा दुःख हुआ। उसने सरदारसे पूछा—'इस सुन्दर बाग़के कोनेमें यह गंदी झोपड़ी कैसी है ?' सरदारने कहा—'यह झोपड़ी हमारे बादशाहकी न्याय-प्रियता और दयालुताका प्रतीक है। सरदारने जाननेकी इच्छा प्रकट की और सरदारने बतलाया—

'बादशाह नौशेरवाँ जिस समय बाग लगवा रहे थे, तब उसके नक्शेमें यह झोपड़ी पड़ी। बादशाहने झोपड़ीकी बुढ़ियाको बुलवाकर कहा—'तू जो मोल चाहे, ले ले; यह झोपड़ी मुझे दे दे। मेरे बागका नक्शा सही हो जायगा।' लेकिन बुढ़िया तैयार नहीं हुई। उसने कहा—'तेरे पास लंबा-चौड़ा देश है; जहाँ चाहे, बाग लगवा ले। मुझसे मेरे पुरखोंकी देहरी क्यों छीनना चाहता है? कुछ दिनोंमें मैं मर जाऊँगी, तब उजाड़कर बाग लगा लेना। मेरे सामने मेरे पुरखोंकी निशानी मिटानेकी न सोच।' बादशाह नौशेरवाँने बुढ़ियाकी भावना समझी और अपना बाग बिगाड़ लिया, लेकिन उसकी झोपड़ी खड़ी रहने दी। बुढ़िया अब नहीं रही, लेकिन उसकी झोपड़ी अब भी बरकरार है।'

राजदूतने सुना और बोला—'न्याय और दयाकी साक्षी इस गंदी झोपड़ीने बादशाह नौशेरवाँकी कीर्ति और बड़प्पनको इस महल और इस बागसे ज्यादा बढ़ा दिया है।'

('युग-निर्माण-योजना')

(७)

जवानकी आदर्श भावना

संध्याके समय एक दिन मैं अपना मेडिकल स्टोर बंद करनेकी तैयारी कर रहा था। पंखा और ट्यूब लाइटें बंद करके मैं दूकानसे नीचे उतर ही रहा था, इसी समय एक आवाज आयी—'भाई साहब! जरा ठहरिये; ये दवाइयाँ दे दीजिये, बहुत जरूरी हैं।'

मैंने सामने देखा—एक सरदारजी अपने स्कूटरसे नीचे उतरते हुए कह रहे थे—'माफ कीजियेगा, आपको तकलीफ तो होगी।' सरदारजीने अपना स्कूटर खड़ा कर दिया। स्कूटरकी पीछेवाली सीटपर छोटे बालकके साथ सरदारजीकी पत्नी भी थीं। मैंने डाक्टरका लिखा पन्ना देखा और उसमें लिखी हुई दवाइयाँ लाकर सरदारजीको दे दीं। बारह रुपये, चालीस पैसेका कैशमेमो उनके हाथमें दिया। कैशमेमो देखते ही सरदारजी थोड़े सहम गये। बोले—'भाई साहब, पैसे थोड़े कम हैं।'

'कोई हर्ज नहीं' मैंने कहा—'दवाइयाँ ले जाइये।'

पिछले दो वर्षसे सरदारजी मेरे ग्राहक थे। प्रायः वे मेरी दूकानसे ही दवाइयाँ खरीदते थे। इसलिये मेरा विश्वास था कि मेरे पैसे जानेवाले नहीं हैं। इसी बीच जेबसे दस रुपयेका नोट निकालकर सरदारजी बोले—'लीजिये, ये दस रुपये तो रख लीजिये, बाकी २.४० मैं कल आकर दे जाऊँगा।'

मुझे भी जानेमें देर हो रही थी। अतः अपनी दूकान बंद करते हुए मैंने कहा—'ठीक है, आप चिन्ता न करें।' और आभार मानते हुए सरदारजी चले गये।

दो वर्ष बीत गये, मैं भी सामान्य प्रसङ्गोंकी भाँति इस प्रसङ्गको भी भूल गया। एक दिन प्रातः ९ बजे मैं दूकान खोलकर बैठा ही था कि सामनेसे वे ही सरदारजी आते हुए दिखायी पड़े। आनेके साथ ही एकदम हर्षावेशमें आकर उन्होंने मुझसे हाथ मिलाया और बोले—'सत् श्रीअकाल! क्यों भाई मुझे भूल गये क्या?' मुझे उनका मस्त स्वभाव स्मरण हो आया। उसी समय २.४० रुपये निकालकर वे बोले—'लीजिये ये २.४०।' मैं आश्चर्यचकित रह गया।

'भाई साहब!' सरदारजी बोले। 'आपसे उस दिन दवाइयाँ लेकर ज्यों ही मैं अपने घर पहुँचा, वैसे ही मुझे बार्डर (सीमाक्षेत्र) पर जानेका आर्डर मिला। मेरे बीमार बच्चेको अपनी पत्नीको सौंपकर मैं राष्ट्रकी सेवाके लिये चला गया। आज दिनतक वहीं सीमाप्रदेशमें मैंने अपना फर्ज अदा किया। बच्चेकी तबियत अच्छी हो जानेकी खबर मेरी पत्नीने पत्रद्वारा दे दी थी। उसी पत्रमें मेरी पत्नीने लिखा था कि मुझे बाजारमें उस दूकानका पता नहीं मिल रहा है। अतः २.४० मैं दे नहीं सकी। मेरे पास भी आपका पता नोट नहीं था। उसके बाद मैं आसामके शिलंग क्षेत्रमें बदल गया। मेरे यहाँ आनेकी आशा भी नष्ट हो गयी। आपके नामका तो मुझे पता न था, मगर दूकानके नामपर मैं २.४०का सामान्य मनीआर्डर भी कर सकता था; परंतु नहीं, मुझे तो आपसे मिलना था और उसीके लिये मेरे प्रयत्न चालू भी थे। इसी बीच संयोगवश हमारी टुकड़ीको अकस्मात् बम्बई जानेका हुक्म हुआ। अपने अफसरको निश्चित समयपर बम्बईमें मिलनेकी बात कहकर मैं बीचमें ही बड़ौदा उतर पड़ा। अब कल सुबहकी गाड़ीसे जाकर अपने साथियोंसे मिलूँगा और निश्चित समयमें अपने उस अफसरसे भेंट कर सकूँगा। सिर्फ आपसे मिलनेके लिये ही मैं अहमदाबाद आया हूँ।'

२.४० की रकम तो एक मामूली-सी बात है। मूल्य वस्तुका नहीं, भावनाका होता है। उस जवानकी भावनाओंसे मैं अत्यन्त प्रभावित हुआ। सीमाक्षेत्रमें इतनी जिम्मेदारीका पालन करते हुए उस जवानने दो रुपये चालीस पैसेकी तुच्छ रकमको लौटानेके लिये इतनी सतर्कता बरती!

'अखण्ड आनन्द'

—उपेन्द्र कु० गोर

श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारद्वारा लिखित परमार्थपथके साधकोंको मार्ग दिखानेवाली पुस्तकें

निबन्ध-संग्रह

	मूल्य
१—भगवच्चर्चा—भाग १ (तुलसीदल)	.६०
२—भगवच्चर्चा—भाग २ (नैवेद्य)	.६०
३—भगवच्चर्चा—भाग ३	.९०
४—भगवच्चर्चा—भाग ४	.९५
५—भगवच्चर्चा—भाग ५	.९०
६—भगवच्चर्चा—भाग ६ (पूर्ण समर्पण)	.९०
७—भवरोगकी रामबाण दवा	.३५
८—श्रीराधामाधव-चिन्तन	५.००
९—श्रीराधामाधव-चिन्तन-परिशिष्ट	२.००

पत्र-संग्रह

(साधना एवं व्यवहारके सम्बन्धमें पत्ररूपमें दिये गये निर्देश)

१०—लोक-परलोकका सुधार—भाग १	.४५
११—लोक-परलोकका सुधार—भाग २	.४५
१२—लोक-परलोकका सुधार—भाग ३	.६०
१३—लोक-परलोकका सुधार—भाग ४	.६०
१४—लोक-परलोकका सुधार—भाग ५	.६०

पद-संग्रह

(खड़ी बोली, व्रजभाषा एवं राजस्थानीके पदोंका संग्रह)

१५—पत्र-पुष्प (भजन-संग्रह भाग ५)	.१५
१६—प्रार्थना-पीयूष	.१५
१७—हरिप्रेरित हृदयकी वाणी	१.४०
१८—श्रीराधामाधव-रस-सुधा (खड़ी बोलीके अनुवादसहित)	.२०
१९—श्रीराधामाधव-रस-सुधा (व्रजभाषाके अनुवादसहित)	.२०
२०—श्रीराधामाधव-रस-सुधा (केवल मूल)	.१०
२१—व्रजरस-माधुरी	.७०
२२—व्रजरसकी लहरें	१.७०
२३—मधुर—भाग १ (झाँकी सं०-४०)	.६५
२४—मधुर—भाग २ (झाँकी सं०-३२)	.६०
२५—शिव-चालीसा	.०८

समाज-निर्माणात्मक साहित्य

२६—हिंदू-संस्कृतिका स्वरूप	.०८
२७—सिनेमा—मनोरंजन या विनाशका साधन	.०८
२८—विवाहमें दहेज	.०४
२९—नारी-शिक्षा	.४५
३०—स्त्री-धर्म-प्रश्नोत्तरी	.१२
३१—वर्तमान शिक्षा	.१२
३२—गोवध—भारतका कलङ्क	.०४
३३—बलपूर्वक देवमन्दिर-प्रवेश और भक्ति	.०४

साधना-साहित्य

३४—मानव-धर्म	.२५
३५—साधन-पथ	.२०
३६—श्रीराधा-जन्माष्टमी-व्रत-महोत्सवकी प्राचीनता, महिमा और पूजाविधि	.३०
३७—मनको वशमें करनेके कुछ उपाय	.१०
३८—श्रीभगवन्नाम	.०८
३९—दिव्य संदेश	.०३
४०—गीतामें विश्वरूप-दर्शन	.०८
४१—ब्रह्मचर्य	.०८
४२—सत्सङ्गके बिखरे मोती	.९०
४३—मनुष्य, सर्वप्रिय और सफल-जीवन कैसे बने ?	.०७
४४—जीवनमें उतारनेकी सोलह बातें	.०३
४५—कल्याणकारी आचरण	.१५
४६—प्रार्थना	.२५
४७—गोपी-प्रेम	.१२
४८—रस और भाव	.१५

उद्बोधक साहित्य

(जीवनमें आशा, उत्साह, स्फूर्ति प्रदान करनेवाला साहित्य)

४९—कल्याण-कुञ्ज भाग—१	.३०
५०—कल्याण-कुञ्ज भाग—२	.३५
५१—कल्याण-कुञ्ज भाग—३	.४५
५२—मानव-कल्याणके साधन (कल्याण-कुञ्ज भाग ४)	१.००
५३—दिव्य सुखकी सरिता (कल्याण-कुञ्ज भाग ५)	.५०
५४—सफलताके शिखरकी सीढ़ियाँ (कल्याण-कुञ्ज भाग ६)	.६२
५५—दैनिक कल्याण-सूत्र	.२५
५६—आनन्दकी लहरें	.०८
५७—दीन-दुखियोंके प्रति कर्तव्य	.०८

भक्त-गाथा-साहित्य

५८—उपनिषदोंके चौदह रत्न	.४५

टीका-साहित्य

५९—प्रेम-दर्शन (श्रीनारदभक्तिसूत्रोंकी हिंदी व्याख्या)	.३५

व्यवस्थापक—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

रजि० सं० एल्० १७५

प्रेमी भक्तकी अभिलाषा

कदा गायं गायं मधुरमधुरीत्या मधुभिद-
श्चरित्राणि स्फारामृतरसविचित्राणि बहुशः ।
मृजन्ती तत्केलीभवनमभिरामं मलयज-
च्छटाभिः सिञ्चन्ती रसह्रदनिमग्नास्मि भविता ॥

मैं कब मधुसूदनके घनीभूत अमृत-रस-पूर्ण विचित्र एवं अनन्त चरित्रोंका मधुर-मधुर रीतिसे गायन करती हुई और उनके अभिराम केलि-भवनका सम्मार्जन तथा मलयज-रससे सिञ्चन करती हुई रस-सरोवरमें निमग्न होऊँगी ?

ताम्बूलं क्वचिदर्पयामि चरणौ संवाहयामि क्वचि-
न्मालाद्यैः परिमण्डये क्वचिदहो संवीजयामि क्वचित् ।
कर्पूरादिसुवासितं क्व च पुनः सुस्वादु चाम्भोमृतं
पायाम्येव गृहे कदा खलु भजे श्रीराधिकामाधवौ ॥

अहा ! कभी ताम्बूल-वीटिका अर्पित करूँगी, चरण दबाऊँगी, कभी माला-आभूषणादिसे उन्हें आभूषित करूँगी, तो कभी उनपर व्यजन ही डुलाऊँगी और कभी कर्पूरादि-सुवासित सुस्वादु अमृतोपम जल भी पिलाऊँगी । इस प्रकार निकुञ्ज-भवनमें कब निश्चयरूपसे मैं श्रीराधा-माधव-युगल-किशोरकी सेवा करूँगी ?

राधाकेलिनिकुञ्जवीथिषु चरन् राधाभिधामुच्चरन्
राधाया अनुरूपमेव परमं धर्मं रसेनाचरन् ।
राधायाश्चरणाम्बुजं परिचरन्नानोपचारैर्मुदा
कर्हि स्यां श्रुतिशेखरोपरि चरन्नाश्चर्यचर्यां चरन् ॥

श्रीराधा-केलि-निकुञ्ज-वीथियोंमें विचरण करते हुए, श्रीराधा-नामका उच्चारण करते हुए, श्रीराधाके अनुरूप अपने परम धर्म (किंकरीके कर्तव्य) का रसपूर्वक आचरण करते हुए, श्रीराधा-चरणाम्बुजोंकी विविध उपचारोंके द्वारा मोदपूर्वक परिचर्या करते हुए एवं आश्चर्यरूप उपर्युक्त चर्याका आचरण करते हुए मैं कब वेदोपरि (वेदातीत) आचरण करनेके योग्य हो सकूँगी ?

निर्माय चारुमुकुटं नवचन्द्रकेण
गुञ्जाभिरारचितहारमुपाहरन्ती ।
वृन्दाटवीनवनिकुञ्जगृहाधिदेव्याः
श्रीराधिके तव कदा भवितास्मि दासी ॥

स्वामिनी श्रीराधे ! जो नवीन-नवीन मयूर चन्द्रिकाओंसे निर्मित सुन्दर मुकुट एवं गुञ्जारचित हार आपके निकट पहुँचाया करे, वृन्दावन-नव-निकुञ्ज-गृहकी अधिदेवी आपकी ऐसी दासी मैं कब होऊँगी ?

राधाकरावचितपल्लववल्लरीके
राधापदाङ्कविलसन्मधुरस्थलीके ।
राधायशोमुखरमत्तखगावलीके
राधाविहारविपिने रमतां मनो मे ॥

हे मेरे मन ! तू श्रीराधाकरोंसे स्पर्श की हुई पल्लव-वल्लरीसे मण्डित, श्रीराधा-पदाङ्कोंसे शोभित मनोहर स्थलोंयुक्त एवं श्रीराधा-यशोगानसे मुखरित मत्त खगावलीद्वारा सेवित श्रीराधा-कुञ्ज-केलि-कानन श्रीवृन्दावनमें रमण कर ।

(श्रीराधासुधा-निधि)